गुरुदत्त

स्व-अस्तित्व की रक्षा

3
S
9

168019
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्व अस्तित्व की रक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिषद् के प्रकाशन

दर्शन एवं विज्ञान

श्री गुरुदत्त

न्याय दर्शन (भाष्य)
ब्रह्मसूत्र सरल भाषा-भाष्य भाग-१
ब्रह्मसूत्र सरल भाषा-भाष्य भाग-२
मुण्डक—माण्डूक्य उपनिषद्
ईश-केन-कठ उपनिषद्
प्रश्न-ऐतरेय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद्
यजुर्वेद में गृहस्थ धर्म
विज्ञान और विज्ञान
वेद प्रवेशिका
वेद और वैदिक काल
श्रीमद्भगवद्गीता (अध्ययन)
श्रीमद्भगवद्गीता (भाष्य)
सायंस और वेद
सांख्य दर्शन (भाष्य)
सृष्टि रचना
वेदों में सोम

राजनीति

धर्म तथा समाजवाद
प्रजातांत्रिक समाजवाद
बुद्धि बनाम बहुमत
भारत : गांधी नेहरू की छाया में
राष्ट्र, राज्य और संविधान
वर्तमान दुर्व्यवस्था का समाधान   हिन्दू रा...
हिन्दुत्व की यात्रा
स्व अस्तित्व की रक्षा

संस्मरण

भाग्य-चक्र
भाव और भावना (संस्मरण)
मैं हिन्दू हूं

पं० राजाराम शास्त्री

न्याय-प्रवेशिका
नव-दर्शन परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्व अस्तित्व की रक्षा

Central Library
168019
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

लेखक
गुरुदत्त

081
168019

हिन्दी साहित्य सदन
३०/९०, कनाट सरकस (मद्रास होटल के नीचे)
नई दिल्ली-११०००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

© शाश्वत संस्कृति परिषद्

R
089.9143
GUR-S
168831

23553624, 23551344, 9213527666
हिन्दी ...
2, बी.डी. ...
करोल बाग ...

प्रकाशक : शाश्वत संस्कृति परिषद, नयी दिल्ली-११०००१

वितरक : **हिन्दी साहित्य सदन**
३०/९०, कनॉट सरकस, नयी दिल्ली-११०००१

संस्करण : जनवरी १९९४

मुद्रक : संजीव आफसेट प्रिन्टर्स एफ 8/32 कृष्ण नगर
दिल्ली -51 Ph. 2249702

₹ 70 P — —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

हिन्दू समाज के अस्तित्व अर्थात् उसकी विद्यमानता के स्थायित्व के विषय पर इस पुस्तक द्वारा लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

सर्वप्रथम यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वर्तमान में कोई हिन्दू समाज विद्यमान भी है जिसकी रक्षा के विषय में इन पृष्ठों पर लिखने का यत्न किया जा रहा है?

सन १९७१ तक की जनगणना में तो भारत में हिन्दू समाज का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु सन् १९८१ की जनगणना में भारत में किसी हिन्दू समाज की विद्यमानता का उल्लेख नहीं पाया गया है। तभी यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। लगभग ४६ करोड़ की संख्या का यह समाज कहाँ गया? यही हमारी चिन्ता का विषय है और इसी सम्बन्ध में लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

हमारी यह सुपुष्ट धारणा है कि जबसे भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से आरम्भ कर अद्यपर्यन्त इस भारतवर्ष में अन्य समुदायों के अनुपात में हिन्दू समुदाय का निरन्तर ह्रास ही होता जा रहा है। तो भी इतना बड़ा जन-समुदाय केवल दस वर्ष में ही इस देश से विलुप्त हो गया है, यह बात गले नहीं उतर पा रही है। तब हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि इतना बड़ा हिन्दू समाज विलुप्त नहीं हुआ है किन्तु सरकारी कागज़ों पर से उसका अस्तित्व मिटाने का दुष्प्रयत्न किया गया है।

परन्तु क्यों? पुनः एक प्रश्न उत्पन्न होता है।

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जनगणना विज्ञप्ति में अन्य समुदायों के नामों का भी तो उल्लेख नहीं है। किन्तु यह कथन किसी प्रकार भी समाधान-कारक नहीं है। यह तो लगभग वैसा ही है कि जैसे कोई व्यक्ति अपनी आयु की गणना करना बन्द कर दे। यदि प्रतिवर्ष किसी की आयु का उल्लेख किया जाता है तो उसके मन में यह विचार उत्पन्न होने लगता है कि वह वर्षानुवर्ष मृत्यु के निकट पहुँचता जा रहा है।

व्यक्ति और जाति में अन्तर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति दिनानुदिन मृत्यु की ओर गतिमान है। किन्तु व्यक्ति की भाँति जाति दिनानुदिन अवगति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर अग्रसर नहीं रह सकती, यदि उसके घटक सावधान रहें। उसका मुख तो इसी कलेवर में अवगति से प्रगति की ओर मोड़ा जा सकता है।

अन्य जातियों की बात हम नहीं कर रहे किन्तु हिन्दू जाति के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि इसमें इतनी क्षमता है कि वह जरायुष्य को प्राप्त जाति को पुनः युवा बना सकती है। अपनी इस क्षमता का प्रमाण हिन्दू जाति ने एक नहीं, अनेक बार प्रस्तुत किया है।

अतएव विगत १९७१ से १९८१ के दशक में हिन्दू समाज की स्थिति कैसी रही है, यह जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है।

हिन्दू समाज पर घोर विपदा का एक समय सन् १९४७ में आया था। उस समय इस देश में विदेशी शक्ति उपस्थित थी और उसी के कारण तत्कालीन परिस्थिति उत्पन्न भी हुई थी। किन्तु उसके बाद तो यह समझा जाने लगा था कि स्थिति अब अपने वश में है। किन्तु देश में हिन्दू समाज की अवस्था और अन्य समाज के घटकों की संख्या के अनुपात में हिन्दू समाज के घटकों की संख्या पर जब दृष्टि जाती है तो उससे मन में संशय उत्पन्न होने लगता है। और अब सन् १९८१ की जनगणना के अनन्तर तो वह संशय सुदृढ़ होता जा रहा है।

सन् १९५० में जब से इस देश पर नया संविधान लागू हुआ है, तब से आरम्भ कर आज तक इस देश में कितने स्थानों पर कितनी बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए हैं, उनकी गणना सम्भव नहीं है। किन्तु वे बड़े-बड़े दंगे, जिनके विषय में सरकार को जाँच आयोगों का गठन करना पड़ा है, उनकी संख्या भी किसी प्रकार कम नहीं है। जाँच आयोग गठित किये गये, यह तो ज्ञात है। किन्तु उन आयोगों के प्रतिवेदन कहाँ हैं? दंगे क्यों हुए, किसने आरम्भ किये, और उसमें दोषी पाये गये व्यक्तियों अथवा समूहों को क्या दण्ड दिया गया? यह सब अज्ञात ही है।

हाँ, लगभग दो वर्ष पूर्व रामनवमी के अवसर पर बिहार के जमशेदपुर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। उसके लिए जाँच आयोग का गठन किया गया था और उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई थी। उसमें एक हिन्दू नेता को दोषी पाया गया था। किन्तु उसपर भी किसी प्रकार का अभियोग चलाया गया अथवा नहीं, यह सन्देहास्पद है। जहाँ तक हम समझते हैं कि उसपर कोई अभियोग नहीं चलाया गया। उसका कारण यही माना जा सकता है कि सम्भवतया न्यायालय में अभियोग के जाने पर अभियुक्त को दोषी सिद्ध करना कठिन हो जायेगा।

किन्तु पूर्वकाल में जमशेदपुर की अपेक्षा अधिक विस्फोटक, मारक एवं घातक दंगे हुए थे और उनके लिए जाँच आयोग भी गठित किये गये थे, उनकी रिपोर्ट प्रकाशित क्यों नहीं की गई? कदाचित् इसलिए तो प्रकाशित नहीं की गई कि आयोग ने उसमें हिन्दू से किसी इतर समाज के व्यक्ति अथवा समाज को दोषी सिद्ध किया है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार देश की यह स्थिति न केवल असन्तोषकारक ही है, अपितु यह बहुत ही भयंकर परिणाम उत्पन्न करने वाली भी है। यही कारण है कि हम हिन्दू समाज की स्थिति पर चिन्ता अनुभव करने लगे हैं।

इसी समस्या पर कुछ विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। हम जिसे हिन्दू समाज समझते हैं उस समाज के लक्षण क्या हैं ? उसपर किसी प्रकार का भय है भी अथवा कि नहीं ? यदि है, तो उसके निवारण का उपाय क्या है ? यही इस पुस्तक का विषय है।

समस्त विश्व और स्वयं अपने देश भारतवर्ष में वर्तमान में हिन्दू समाज की स्थिति का वर्णन कर कि वह कितनी भयावह है, यही इस पुस्तक द्वारा व्यक्त करने का यत्न किया गया है। तदनन्तर अपने विचारानुसार उस भय के निवारण का उपाय भी बताया गया है।

प्रस्तुत विषय पर हम हिन्दू समाज के कर्णधारों, नायकों, विद्वानों आदि-आदि का ध्यान आकर्षित करके उनसे इस विषय पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करने और उसके निराकरण के लिए योजनाबद्ध कोई कार्य प्रारम्भ करने की भी अभिलाषा रखते हैं।

इसी उद्देश्य से हमारा यह प्रयास है।

—गुरुदत्त

दिनांक १-८-१९८३
१८/२८, पंजाबी बाग,
नयी दिल्ली-११००२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम खण्ड

प्रथम परिच्छेद

: १ :

देश का स्वामित्व

यह घर राम का है। इस घर में राम रहता है। इस घर में कुछ लोग ग्राये हुए हैं।

ये तीनों वाक्य समानार्थक नहीं हैं।

प्रथम वाक्य में घर के स्वामित्व के विषय में कहा गया है। दूसरे वाक्य में तो केवल यह कहा गया है कि उस घर में राम का निवास है। उस घर में वह किस ग्रधिकार से निवास करता है, यह स्पष्ट नहीं है। वह किरायेदार हो सकता है, वह घुसपैठिया भी हो सकता है जो ग्रनधिकृत रूप में वहाँ निवास करता हो। यह भी समझा जा सकता है कि वह थोड़े समय के लिए वहाँ ग्राकर रहने लगा हो ग्रौर ग्रपना कार्य सिद्ध हो जाने पर वह वहाँ से चला जायेगा।

तीसरे वाक्य में केवल यह संकेत है कि उस घर में कुछ लोग ग्राये हैं। वे उस घर में स्थायी रूप में रहने वाले नहीं हैं। वे जिस प्रयोजन से ग्राये हैं वह प्रयोजन सिद्ध करने के उपरान्त वे वहाँ से चल देंगे। जिस घर में वे ग्राये हैं, वह घर भी किसी के स्थायी रूप से रहने का है ग्रथवा कि कोई धर्मशाला है, यह भी कुछ स्पष्ट नहीं है।

ग्राज भारत के ग्रसम राज्य की भी कुछ इसी प्रकार की दशा हो रही है। जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं (ग्रर्थात् मार्च, १९८३) उस समय इस प्रदेश में विधान सभा के निर्वाचन सम्पन्न हुए हैं। वहाँ की कुछ संस्थायें, जो ग्रसम प्रदेश के स्थायी ग्रौर प्राचीनकाल से निवास करने वालों का प्रतिनिधित्व करती हैं, इस समय निर्वाचनों के विरुद्ध हैं। वे चाहते थे कि निर्वाचनों से पूर्व यह निश्चय कर लिया जाये कि इन निर्वाचनों में कौन मतदान का वास्तविक ग्रधिकारी है। उनका कहना था कि देश के संविधान के ग्रनुसार वर्तमान में वहाँ बसने वाले ग्रनेक लोग मतदान के ग्रधिकारी नहीं हैं। ऐसे ग्रनधिकारियों की संख्या लाखों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में है। उन संस्थाओं का कहना था कि जबतक इसका निर्णय न हो जाय तबतक न तो विधान सभा के निर्वाचन कराये जायें और न ही लोक सभा अथवा राज्य सभा के। ऐसी स्थिति में यह कार्य अनुचित होगा।

सन् १९६६ के भारत-पाक युद्ध के उपरान्त बहुत बड़ी संख्या में देश से बाहर से, विशेषतया बँगला देश से लोगों ने घुसपैठ की है। असम में ऐसे घुसपैठियों की संख्या लक्षाधिक है। निर्वाचन का विरोध करने वाली असम प्रदेश की संस्थाओं के प्रतिनिधियों का कहना था कि ऐसे लोगों को मतदान का अधिकार नहीं होना चाहिए।

विभिन्न संस्थाओं के विभिन्न प्रतिनिधि चार वर्ष तक भारत सरकार से इस विषय पर आग्रह करते रहे। सरकार और जनता के प्रतिनिधियों में वार्त्तालाप के अनेक दौर चले। जैसा कि समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचारों से विदित होता रहा है। तदनुसार इस वार्त्तालाप में सरकार और जन प्रतिनिधियों ने यह तो मान लिया था कि १९७८ में जो मतदाता सूची तैयार की गई है वह ठीक नहीं है। उस मतदाता सूची में उन लोगों की संख्या अत्यधिक है जो घुसपैठिये होने से इस देश और प्रदेश के नागरिक नहीं हैं। तब यह विवाद उठा कि उनकी संख्या कितनी है और उनको किस प्रकार पहचाना जाये।

एक समस्या यह भी उठी कि असम में तो स्वराज्य-प्राप्ति से पूर्व भी, लोग आकर बसते रहे हैं। अतः यह निश्चय कर पाना कठिन है कि कौन वास्तव में असम मूल का है और कौन असम मूल का नहीं है, अथवा कौन यहाँ का आदिवासी है और कौन आकर बसने वाला है।

इस सब विवाद को देखते हुए एक बात तो स्पष्ट हो गई थी कि वहाँ कुछ ऐसी स्थिति अवश्य है कि जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ कुछ लोग ऐसे बस गये हैं जो मूलतया वहाँ के निवासी नहीं हैं। समस्या यह थी कि उनकी पहचान किस प्रकार की जाय और फिर उनको वहाँ से किस प्रकार निकाला जाय।

इस प्रकार चार वर्ष तक वार्त्तालाप चलता रहा और फिर सहसा केन्द्रीय सरकार ने यह घोषणा कर दी कि न तो वहाँ अनिश्चित काल के लिए राष्ट्रपति शासन ही लागू रखा जा सकता है और न ही वहाँ के निर्वाचनों को टाला जा सकता है। अतः सरकार ने घोषणा कर दी कि सन् १९७८ की मतदाता सूची के आधार पर असम में निर्वाचन कराये जायें।

जो संस्थायें उस मतदाता सूची और घुसपैठियों के मतदान के अधिकार का विरोध कर रही थीं, उनके प्रतिनिधियों ने सरकार की इस घोषणा पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए घोषित कर दिया कि यदि सरकार ने निर्वाचन कराये तो वे इसका विरोध करेंगे। इस प्रकार राजा और प्रजा में ठन गई। राजा के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असीमित साधन और असंख्य सेना तथा पुलिस का बल था। स्वाभाविक है विजय राजा की ही होनी थी। वह विजय तो हुई किन्तु उसपर असंख्य लोगों की हत्या का कलंक लगे बिना नहीं रह सका।

स्वयं सरकारी आँकड़ों के अनुसार मृतकों की संख्या ३००० थी और उन निर्वाचनों में मतदान २५ प्रतिशत ही हुआ। यह भी सुना जा रहा है कि मतदान केवल उन क्षेत्रों में ही हुआ है जहाँ कि घुसपैठिये अधिक संख्या में रहते हैं।

हत्या के कारण भी दो थे। एक तो यह कि जो लोग निर्वाचन का विरोध कर रहे थे उनपर सेना अथवा पुलिस ने गोली चलाकर उनका विरोध समाप्त किया और दूसरे मतदान के इच्छुक और विरोधी दलों में परस्पर की मार-काट से भी हत्यायें हुई हैं।

ये परस्पर विरोधी समुदाय कौन से हैं जिनमें परस्पर युद्ध हुआ? वे हैं एक तो जो स्वयं को असम का आदिवासी मानते हैं और दूसरे वे जो बँगला देश से भागकर असम में घुस आये हैं।

एक समाचार यह भी था कि बनवासी और नगरवासी दो समुदाय बन जाने से उनमें परस्पर प्रबल संघर्ष हुआ है।

अस्तु, यह तो जाँच का विषय है कि किस-किस समुदाय में परस्पर युद्ध हुआ है और किस समुदाय के अधिक व्यक्ति मारे गये हैं। किन्तु इतना तो सरकार ने भी स्वीकार किया है कि ३००० व्यक्ति मारे गये हैं। किन्तु वहाँ के निवासियों की धारणा है कि मरने वालों की संख्या ३००० से कहीं अधिक है।

हमारी दृष्टि में असम की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि हमने इस कण्डिका के प्रारम्भ में तीन वाक्यों में व्यक्त करते हुए अन्तिम वाक्य लिखा है। अर्थात् वहाँ कुछ लोग आये हैं। क्यों आये हैं, कितने आये हैं, कब आये थे और कब तक रहेंगे, यह सब अनिश्चित है। ऐसे लोगों ने वहाँ मतदान में भाग लिया है और उसके आधार पर लोकमत द्वारा निर्वाचित सरकार का वहाँ गठन भी हो गया है। किन्तु वह लोकमत भी केवल २५ प्रतिशत ही था और उसमें भी मूल निवासी और घुसपैठियों का विवाद बना हुआ ही है कि कितने मूल निवासियों ने मतदान में भाग लिया होगा। सम्भवतया वे २५ प्रतिशत मात्र घुसपैठिये ही हों।

न्यूनाधिक यही स्थिति समस्त भारतवर्ष की है। वर्तमान भारत सरकार केवल उन लोगों को ही भारत का नागरिक स्वीकार करती है जोकि १९ जुलाई, १९४८ से पूर्व यहाँ रहते थे अथवा तबतक यहाँ रहने के लिए आकर बस गये थे।

इस प्रकार के विचारों के उत्तराधिकारी ही यह निश्चय करने के लिए बैठे कि असम में रहने वालों में कौन वहाँ का वास्तविक नागरिक है। उनका ही यह कहना था कि जो कोई भी असम का निवासी है उसको वहाँ की विधान सभा के गठन का अधिकार है, भले ही वे उस प्रदेश में घुसपैठियों के रूप में ही क्यों न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आये हों !

किसी ऐसी तिथि का निश्चय न कर पाना कि उसके बाद असम में आने वालों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं होंगे और सन् १९७८ में बनी मतदाता सूची के आधार पर निर्वाचन कराना और फिर तीन हजार लोगों को मृत्यु का ग्रास बनाना आदि-आदि कुछ ऐसी घटनायें हैं जो भारत में मुसलमानी काल का स्मरण कराती हैं।

मुसलमानी राज्य शासन में भी ऐसा ही होता था कि काबुल अथवा ईरान से दो दिन पहले ही भारत में आया हुआ व्यक्ति भारत के मूल निवासियों से कहीं अधिक अधिकारों से युक्त माना जाता था। बस एक ही शर्त होती थी, वह यह कि उसका मुसलमान होना आवश्यक था।

मुसलमानी काल में जो कुछ होता था वही आजकल असम में होता दिखाई दे रहा है।

यह समस्या क्या है, क्यों है और इसका निराकरण क्या है, इस समस्या से किसकी रक्षा करने की आवश्यकता है, यहीं मुख्य प्रश्न है।

: २ :

'यह घर राम का है।' किन्तु यह कैसे कहा जाय कि यह घर राम ने बनवाया है। उस भूमि पर, जहाँ राम का घर बना हुआ है, दीवारें, द्वार, छज्जे, छत आदि-आदि तो राम ने बनवाये हैं, यह तो कहा जा सकता है। किन्तु भूमि को उसने नहीं बनाया अथवा बनवाया है।

जब देश की बात होती है तो उसका अभिप्राय इस देश की भूमि से ही होता है। भूमि तो परमात्मा की बनाई हुई है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि भूमि राम की किस प्रकार हो गई ?

अकबर मुसलमान सम्राट था। भारत की भूमि राणा प्रताप की थी, अकबर की नहीं, यह किस प्रकार कहा जा सकता है ?

तब क्या देश और घर की बात समान नहीं है ? हमारी दृष्टि में ये दोनों बातें समान ही हैं। कम-से-कम रहने के अधिकार के सन्दर्भ में तो ये समान ही हैं। वह इस प्रकार कि मकान में भूमि, ईंट, सीमेण्ट, रेत, जल और फिर घर बनाने में परिश्रम इन सबका स्रोत प्रकृति ही है। घर बनाने वाले का वह घर तब होता है जब वह भूमि को समतल करके उसमें नींव खोदकर और भूमि से ही प्राप्त सीमेण्ट, लोहा, रेत, जल आदि को एकत्रित कर मकान की रूपरेखा बनाता है। वास्तव में मकान बनाने की सामग्री तो सब-की-सब ईश्वर की ही देन है। घर बनाने वाले का तो परिश्रम मात्र ही होता है।

यह परिश्रम ही है जो मनुष्य को स्वामित्व प्रदान करता है। यही कारण है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि घर और देश की बात में समानता दिखाई देती है। इसमें कुछ अन्तर भी है। वह अन्तर भी परिश्रम के रूप में है। मकान बनाने के लिए परिश्रम का रूप एक होता है और देश को रहने योग्य बनाने के लिए परिश्रम का रूप उससे भिन्न होता है। हमारा कहना यह है कि मकान का स्वामित्व और देश का स्वामित्व जो जिसके लिए परिश्रम करता है वह उसका फल ही है। और परिश्रम का सम्बन्ध व्यक्ति से है। इस दृष्टि से हम समझते हैं कि घर का स्वामी और देश का नागरिक समानार्थक शब्द ही हैं। स्वामित्व का रूप भिन्न है और स्वामियों की संख्या में भी अवश्य अन्तर है। परन्तु अधिकार का स्रोत और उसकी सीमा समान है।

इसीलिए हमने घर के उदाहरण के माध्यम से देश की बात की है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि देश के स्वामित्व के लिए किस प्रकार का परिश्रम करना पड़ता है ?

देश की नागरिकता का मूल बताने से पूर्व हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि घर में रहना अथवा घर में जन्म लेना उस घर के स्वामित्व से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता।

घर में रहने मात्र से ही व्यक्ति उस घर का स्वामी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो होटलों में जो रहते हैं, वे उन होटलों के अथवा उन आगारों के स्वामी बन जाते जिनमें वे रहते आये हैं। इसी प्रकार अस्पतालों में जन्म लेने वाले उन अस्पतालों के स्वामी कहलाते। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः नागरिक के लक्षणों में जन्म और किसी तिथि विशेष से रहने की बात नितान्त अर्थहीन समझनी चाहिए।

इन दोनों स्थितियों के लिए एक विशेष शर्त है। वह यह कि नागरिक का जन्म किसी नागरिक के परिवार में हुआ हो और उस परिवार के नाते वह देश में रहता हो, तब ही वह नागरिक बन सकता है। इसी प्रकार मकान का स्वामी बनने के विषय में भी है।

अतः मूल प्रश्न यही है कि किसी देश का नागरिक किस प्रकार बना जा सकता है ? देश का स्वामी तो जो उसको बनाता है उसे परमात्मा कहिये अथवा कि प्रकृति, वही है। देश मात्र भूमि है। किन्तु जब इसमें कुछ विशेष गुण उत्पन्न किये जाते हैं तब यह देश कहलाता है। उसके अभाव में यह देश नहीं, भूमि ही कहो जायेगी।

वह भूमि जो सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक तथा हिमालय से कन्याकुमारी तक विस्तृत है, किस प्रकार देश बन गई है ? यही प्रश्न विचारणीय है।

इसको जानने के लिए इस भूमि का इतिहास जानना परमावश्यक है। बिना देशवासियों के देश बन ही नहीं सकता। देशवासी वे हैं जिन्होंने इस भूमि खण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को देश के रूप में व्यक्त करने के लिए परिश्रम किया है।

भारत का तो बड़ा प्रसिद्ध इतिहास रहा है। यह प्राचीनतम देशों में से है। इसका वर्णन भारत के इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों में किया गया है। वायु पुराण में इसका वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है।

स्वयम्भू मन्वन्तर आया त्रेता युग में। वर्तमान सृष्टि की वर्तमान चतुर्युगी के त्रेता युग के आरम्भ में स्वयम्भू मनु के पौत्रों में एक राजा हुए हैं, जिनका नाम प्रियव्रत था।

पुराणों की शैली के वर्णन के अनुसार सन्तान और पुत्र-पौत्रों का एक ही अर्थ होता है। अतः उपरिलिखित वाक्य का अर्थ हुआ कि स्वयम्भुव मनु की सन्तानों में एक प्रियव्रत थे। यह त्रेता युग के आदिकाल की बात है।

युग गणना के आधार पर त्रेतायुग का आरम्भ आज से लगभग २२ लाख वर्ष पूर्व हुआ था।

इतने लम्बे काल की बात सुनकर योरोप वालों का मस्तिष्क भ्रमित होने लगता है। इसका कारण यही है कि योरोप के इतिहास का तीन हजार वर्ष से अधिक का ज्ञान ही नहीं है।

ऐसा क्यों हुआ? उसका कारण भी एक खगोलिक घटना है। हम यहाँ पर उसका वर्णन नहीं कर रहे हैं। इससे विषयान्तर हो जायगा। उसे छोड़ हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि बीस लाख वर्ष के काल से भारतवर्ष का छुटपुट इतिहास प्राप्य है।

इतने लम्बे काल का इतिहास उस प्रकार क्रमशः मिलना कठिन है जिस प्रकार मुगलों अथवा पठानों का या कि इंग्लैण्ड के वर्तमान राजवंश का मिलता है। यह काल की सुदीर्घता के कारण ही है। इतने लम्बे काल का इतिहास उस प्रकार लिखना जिस प्रकार कि भारत में मुगलों, पठानों अथवा अंग्रेजी राज का इतिहास लिखा गया है, न तो सम्भव ही था और न उपयुक्त ही। यही कारण है कि हमने बीस लाख वर्ष पूर्व के इतिहास-प्राप्ति के विषय में 'छुटपुट' शब्द का प्रयोग किया है।

जो बात हम लिख रहे हैं वह यह है कि त्रेता युग के आरम्भ में स्वयम्भुव मनु की सन्तान में प्रियव्रत नाम के एक राजा हुए थे। वह कहीं जम्बूद्वीप में राज्य करते थे। उस समय जम्बूद्वीप कितना बड़ा था, यह बताना भी कठिन ही है। इतना ही वर्णन मिलता है कि वह द्वीप था। द्वीप से अभिप्राय है जिसके चारों ओर सागर हो। सम्भवतया वह 'युरेशिया' हो। युरेशिया आज भी द्वीप ही है। एक छोटा-सा भूमि का अंश सिनाई प्रायःद्वीप का भाग अफ्रीका से जुड़ा हुआ है। स्वेज नहर ने उसको भी काट दिया है। अवशिष्ट को युरेशिया द्वीप ही कहा जा सकता है। यही जम्बू द्वीप है। इसके मध्य में हिमालय पर्वत है। हिमालय पर्वत वास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कैस्पियन सागर से आरम्भ होकर ब्रह्मदेश तक फैला हुआ है। भारत के उत्तर में यह पर्वत बहुत ऊँचाई तक गया है।

स्वयम्भुव मनु की सन्तान प्रियव्रत उस द्वीप का शासक था।

यह भी सम्भव हो सकता है कि जितना बड़ा आज युरेशिया द्वीप है, उस समय यह द्वीप इतना बड़ा न हो। इसका कारण वह घटना हो सकती है जो सत-युग और त्रेता के सन्धि काल में घटित हुई थी। उस काल में महा जल प्लावन हुआ था। ऐसी मान्यता है कि उस समय समस्त भूमण्डल जलमग्न हो गया था। भूमि का थोड़ा-सा अंश ही जल के बाहर रह गया था। जिस समय के इतिहास की हम बात कर रहे हैं उस समय प्लावन का जल शनैः-शनैः उतर रहा था। उस समय तक कितनी भूमि सागर से बाहर निकल आई होगी, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना उल्लेख पाया जाता है कि ज्यों-ज्यों जल से बाहर निकलकर भूमि उभरती जाती थी, उसपर स्वम्भुव मनु की सन्तान अधिकार करके उसको निवास योग्य बना देती थी। अतः यह बता पाना नितान्त असम्भव है कि प्रियव्रत के शासनकाल में कितनी भूमि जल से बाहर निकल आई होगी।

प्रियव्रत की कन्या का विवाह प्रजापति कर्दम के साथ हुआ था। इन दोनों की बहुत सन्तान हुईं। कर्दम के भाई का नाम कुक्षि था। उसकी भी बहुत सन्तान हुई थीं।

कुक्षि आदि दस भाई थे। उनमें से सात को पृथक्-पृथक् राज्य दे दिये गये थे। उस समय जम्बू द्वीप का राज्य अग्निन्ध को प्राप्त हुआ था। अग्निन्ध का ज्येष्ठ पुत्र नाभि था। उसको हिम देश का शासक बना दिया गया था। उसे हेमकूट वर्ष भी कहा जाता है। नाभि की पत्नी का नाम मरुदेवी था। इनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम ऋषभ था। ऋषभ का पुत्र भरत हुआ। भरत को हिम नाम वाला वर्ष दिया गया। यह वर्ष दो सागरों के मध्य में स्थित था। और यह हिमालय से सागर पर्यन्त था। अभिप्राय यह कि भरत को उस भारतवर्ष का राज्य मिला जो १९४७ से पूर्व ब्रिटिश इण्डिया कहा जाता था।

भरत ने राज्य लेते ही वह अपने पुत्र को सौंप दिया और स्वयं संन्यास धारण कर लिया। तबसे इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

इस देश का नाम भारत पड़ा अर्थात् भरत द्वारा त्यागा हुआ देश। वर्ष इस कारण कहते हैं कि इसकी प्राकृतिक सीमायें सिन्धु से ब्रह्मपुत्र नदी और हिमालय से सागर इन प्राकृतिक सीमाओं से ही वर्ष कहाता है। अर्थात् जिस देश का स्वामित्व अथवा नागरिकता की बात हम कहने जा रहे हैं वह महाराज भरत, जो स्वयम्भुव मनु और प्रियव्रत की सन्तान था, का देश है। यह त्रेता युग के आदिकाल की बात है। और भारतीय गणना के अनुसार उसे लगभग बीस लाख वर्ष बीत चुके हैं। यह प्रथम अधिकार की बात है कि जिससे भारत का नागरिक हो सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह भारत भरत की सन्तान अथवा उसकी प्रजा का है।

परन्तु इतने मात्र से ही तो कोई इसका नागरिक नहीं बन सकता। और इतना सुदीर्घ काल बीत जाने पर पुरखा का सन्तान से क्या सम्बन्ध था, यह इतने मात्र से तो प्रकट होता नहीं।

: ३ :

किसी भी पिता की सन्तान तभी स्वीकार की जाती है जबकि वह अपने पिता के यज्ञ कर्म को जारी रखे। अन्यथा उसको सन्तान कहलाने का अधिकार नहीं है। तब अपने पिता की सम्पत्ति पर भी उसका अधिकार नहीं माना जाता है। यह मनुस्मृति का विधान है। जब किसी मनुष्य का अपना पुत्र न हो तो वह कन्या की सन्तान को ग्रहण कर उसको पुत्र बना ले और उसके द्वारा अपने यज्ञ कर्म को जारी रखने का यत्न करे। इन पुण्य कर्मों को चालू रखने वाला ही पुत्र कहलाता है। वही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी भी बनता है।

यही बात देश की भी है। देश की स्थापना करने वालों ने कुछ पुण्य कर्म जारी किये हैं। जो लोग इन पुण्य कर्मों को जारी रखते हैं वे देश की नागरिकता के अधिकारी होते हैं। न तो होटलों में जाकर रहने वालों की भाँति के लोग किसी देश के स्वामी बन सकते हैं और न ही केवल जन्म लेने मात्र से कोई देश का नागरिक बन सकता है। यहाँ तो यह कहा है कि पिता का उत्तराधिकारी पिता के पुण्य कर्मों को चालू रखने वाला होता है। देश के सम्बन्ध में तो यह बात और भी आवश्यक है।

अतः यह जानने का विषय है कि भरत के ऐसे कौन-से पुण्य कर्म थे जिनका सम्बन्ध देश और जाति से था और जिनको जारी रखने से इस देश के लोग भारतीय कहे जा सकते थे।

वायु पुराण के आधार पर जो एक बात स्पष्ट है वह यह है कि भरत ने संन्यास ले लिया था। संन्यास लेने की प्रथा आर्य सन्तान में है। अधिकांशतया पचास वर्ष की आयु के उपरान्त भारत के लोग संन्यास ले लेते थे। कुछ ऐसे भी थे और आज भी पाये जाते हैं, जो कि पचास से कम आयु में भी संन्यास ग्रहण कर लिया करते थे। प्रश्न यह है कि संन्यास लिया क्यों जाता है? संन्यासी वह है जो भ्रमण करता हुआ जन-जन को मानव धर्म का ज्ञान कराता है, जन-जन के ज्ञान में वृद्धि में सहायक होता है। मनु के धर्मशास्त्र में भी संन्यासी के लगभग यही कर्म बताये हैं।

वर्णाश्रम धर्म, वेदानुयायियों का प्राचीन धर्म है और इसका पालन करना ही देश में रहने के लिए अधिकारी सिद्ध करता है।

यदि यों कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि वर्णाश्रम धर्म वेद-धर्म की रीढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की हड्डी के समान है और वैदिक धर्म का पालन करना वर्णाश्रम धर्म में निहित है।

वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या करना इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। प्रसंगवशात् केवल यहाँ पर इसका उल्लेख करने का अभिप्राय यही है कि वेद के मतानुसार जीवन में चार वर्ण और चार आश्रम चलाने की विशेष विधा है। इसे जातीय जीवन की विधा कहा जाता था। भरत ने इसकी ही एक विधा को ग्रहण किया था। इसे उस समय उसका महान् त्याग माना गया था और उसके इस महान् त्याग के लिए उसके नाम पर ही इस देश का नाम रख दिया गया था।

इसके साथ जो त्याग की भावना थी वह विचारणीय है। त्याग किसी सांसारिक लाभ के लिए नहीं वरन् देश के हित के लिए किया गया था।

इस त्याग में देश और समाज का यह हित था कि जो व्यक्ति साधु स्वभाव का हो उसको राज्य प्रशासन जैसा दुर्गम और कठोर कार्य नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम नहीं है जोकि राज्य प्रशासन जैसे कठोर कार्य के योग्य न होने पर भी इसे प्राप्त कर लेने के बाद उसको त्यागना नहीं चाहते। उसका परिणाम यह होता है कि उनके द्वारा देश और समाज के कल्याण की जो अपेक्षा की जाती है वे उसकी पूर्ति नहीं कर पाते हैं।

किन्तु भरत ने ऐसा नहीं किया। उसने जब यह अनुभव किया कि राज्य तो उसको प्राप्त हो गया है तदपि उसकी मानसिक अवस्था ऐसी नहीं है कि वह राज्य प्रशासन जैसा कठोर कार्य कर सके, अतः बिना किसी प्रकार की ननु नच करते हुए उसने राज्य की बागडोर अपनी सन्तान को सौंप दी।

उद्देश्य विशेष के लिए त्याग और ज्ञानार्जन के लिए तपस्या करने के निमित्त भरत ने उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य को अपने पुत्र को सौंप दिया।

भरत सूर्यवंशी राजा नहीं था। वह चन्द्रवंशी था। किन्तु सूर्यवंशियों की परम्परा भी ऐसी ही थी। लगभग उसी युग की बात है। सूर्यवंश के संस्थापक इक्ष्वाकु थे। महाभारत में इक्ष्वाकु के विषय में उल्लेख है कि जिस समय इक्ष्वाकु ने राज्य सम्हाला था उससे पूर्व महा जल प्लावन के कारण वेद-धर्म का प्रायः लोप-सा ही हो गया था। इक्ष्वाकु ने राज्य भार सम्हालते ही सर्वप्रथम वेद-विहित धर्म के प्रचार-प्रसार की ओर ध्यान दिया।

वेद-धर्म क्या है ? यह भी संक्षेप में बता देना हम उपयुक्त समझते हैं। इतना बताना ही उपयुक्त होगा कि वेद परमात्मा, जीवात्मा, कर्मफल, उनके द्वारा वैकुण्ठ-धाम की प्राप्ति, पुनर्जन्म इत्यादि को मानता है। वेद-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता जो है वह उसका बुद्धिवाद है। बुद्धि के प्रयोग का विधि-विधान है। उस विधि-विधान के आधार पर बुद्धि मानव शरीर से कर्म कराने में सर्वोपरि मानी जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस विषय में कहा गया है और मनुस्मृति के जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय में मानव के दस धर्मों का उल्लेख किया गया है वहाँ बुद्धि के विकास को उनमें से एक माना गया है।

इस प्रसंग में हमारा इतना ही कहना है कि जिन्होंने इस भारत भूमि को रहने योग्य बनाने के लिए परिश्रम किया है उन्होंने कुछ कर्म का भी विधान किया था और हम समझते हैं कि भारत में रहने का अधिकार प्राप्त करने के लिए यहाँ का आदिवासी होना अथवा यहाँ जन्म लेना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि उन कर्मों को करना।

इस समय जो इस देश में भूल हो रही है वह यही है कि देश का नागरिक बनने के लिए करणीय कर्मों आदि को महत्त्व देने की अपेक्षा इस देश में जन्म लेना और इसमें निवास करने को महत्त्व दिया जा रहा है। इस प्रसंग मे यदि कहीं कुछ करणीय कर्तव्य का उल्लेख किया भी गया है तो वह अर्थहीन अथवा मिथ्यात्व पर आधारित है। आगे चलकर हम इस विषय पर विस्तार से वर्णन करेंगे।

एक आचार-विचार विशेष के लोगों का अस्तित्व इस देश से सम्बन्धित है और दुर्भाग्यवश आज उस आचार-विचार को ही समाप्त करने का यत्न किया जा रहा है। यहाँ पर अस्तित्व की रक्षा से हमारा अभिप्राय उस आचार-विचार की रक्षा ही है। इस पुस्तक के शीर्षक का यही अर्थ है। उस आचार-विचार से ही भारत के नागरिकों का अस्तित्व है। भारतीय विचार की रक्षा करना ही 'स्व अस्तित्व की रक्षा' है।

उस आचार-विचार की एक अति संक्षिप्त झलक हमने प्रस्तुत की है। हमारी मान्यता है कि उस आचार-विचार वालों के अस्तित्व की रक्षा की जानी चाहिए। वह रक्षा किस प्रकार सम्भव है, इसी पर हम अपने कुछ विचार व्यक्त करने का यत्न कर रहे हैं।

: ४ :

भारतवासियों के जिस आचार-विचार की रूपरेखा हमने अपनी पूर्व कण्डिका में प्रस्तुत की है उसके मानने वालों को हिन्दू नाम से जाना जाता है।

इस विषय पर मतभेद की सम्भावना हो सकती है किन्तु वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वालों, परमात्मा और जीवात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करने वालों, कर्मफल और पुनर्जन्म को स्वीकार करने वालों, मानव के लिए निर्धारित दस धर्मों पर आचरण करने वालों को हम हिन्दू कहते हैं। भारत में रहने वाले और इन विचारों को मानने वालों का हिन्दू नाम विगत लगभग दो सहस्र वर्ष से चला आ रहा है। इससे पूर्व हिन्दू को भारतीय, आर्य अथवा वेदानुयायी कहा जाता था। किन्तु नाम बदल जाने से अस्तित्व का आधार तो नहीं बदल सकता। उदाहरणार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे जन्म समय के कुण्डली के अनुसार मेरा नाम चुन्नी लाल रखा गया था किन्तु माता-पिता पर तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार सिक्ख गुरुओं की कुछ छाप पड़ गई थी, अतः उन्होंने मेरा नाम गुरुदास रख दिया। किन्तु जब सिक्ख गुरुओं के प्रभाव पर आर्यसमाज का प्रभाव प्रबल होने लगा तो गुरुदास से मेरा नाम गुरुदत्त हो गया। इस प्रकार मेरे तीन नाम बदले गये किन्तु मैं तो वही रहा जो था और जो हूँ।

ज्योतिषशास्त्र पर मेरा विश्वास उतना ही है जितना कि पूर्वकाल में मेरे माता-पिता का था। सिक्ख गुरुओं पर मेरी श्रद्धा भी उतनी ही है जितनी कि किसी सिक्ख सन्तान को हो सकती है। मैं दशम गुरु की केवल एक बात को स्वीकार नहीं कर पाया। वह यह है कि उन्होंने एक सैनिक दल को पन्थ का नाम दे दिया। अतः इन गुरुओं पर मेरी श्रद्धा अब भी उतनी ही है जितनी कि आरम्भ में थी। विचारों से मैं स्वयं को आर्यसमाजी मानते हुए भी मैं न तो ज्योतिषशास्त्र का विरोधी हूँ और न ही सिक्ख गुरुओं का अथवा सिक्ख समुदाय के विचारों का।

वास्तव में अब तो मैं वर्तमान आर्यसमाजियों से स्वयं को अनेक बातों में भिन्न पाता हूँ। यथा, मैं हवन यज्ञ (देव यज्ञ) को जीवन का आवश्यक अंग स्वीकार नहीं करता। आर्य होते हुए भी मुझे हिन्दू नाम से किसी विशेष प्रकार की गन्ध नहीं आती, मैं स्वयं को हिन्दू मानता हूँ। सन्ध्यावन्दन को मैं उतना ही श्रेष्ठ विधि-विधान मानता हूँ जितना वेद पाठ अथवा वेद ज्ञान को प्राप्त करना। परमात्मा की भक्ति ज्ञानार्जन द्वारा मानता हूँ, आदि-आदि। यह सब होते हुए भी आर्यसमाज के रजिस्टर पर मेरा नाम अंकित है।

इसी प्रकार वेदमतानुयायी, भारतीय और हिन्दू समानार्थक शब्द हैं। भारतीय और हिन्दू नाम तो स्थान के उद्‌बोधक हैं। तदपि वेद के साथ इन नामों का अटूट सम्बन्ध होने के कारण ये तीनों नाम समानार्थक ही समझे जाने चाहिए। प्रत्येक हिन्दू के नामकरण संस्कार के अवसर पर वेदमन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। यह भारतीय परम्परा है।

कुछ भ्रमग्रस्त जन वेद को भारतीय और हिन्दू से पृथक् अर्थ वाला मानने लगे हैं। किन्तु मैं इसे इस प्रकार नहीं मानता। उसका कारण यह है कि भारतवर्ष में रहने वाले और हिन्दू नाम से जाने जानेवाले लोगों में मूल रूप में वेद ही जीवन का विधि-विधान बताने वाले हैं।

उदाहरणार्थ सुपठित और अपठित हिन्दू सभी यह मानते हैं श्रीमद्‌भगवद्-गीता उनकी धर्म की पुस्तक है। उसमें एक श्लोक इस विषय पर भी है। वह इस प्रकार है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्‌भिर्विनिश्चितैः॥ (१३-४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—ऋषियों द्वारा अनेक प्रकार से वर्णन किया गया, वेदमन्त्रों द्वारा तथा अनेक प्रकार से पृथक्-पृथक् रूप में ब्रह्मसूत्रों में कहा गया और तर्क द्वारा निर्धारित किया गया विषय ही इस गीता में कहा गया है।

इस दृष्टि से मैं हिन्दू समाज में उन सबकी गणना करता हूँ जो इन सब अथवा इनमें से किसी एक साधन द्वारा अपने जीवन में प्रेरणा प्राप्त करता है। वेदमन्त्रों द्वारा ऋषियों ने जीवन-यापन की विधा बखान की है। वेदोक्त ऋत, ब्रह्मसूत्र के मन्त्रों में वर्णित बातें सब एक ही परिणाम पर पहुँचाने वाली होती हैं। वह परिणाम है वेद, भारतीय अथवा हिन्दू।

आर्य का अर्थ भी स्पष्ट कर देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। इसका अर्थ-है श्रेष्ठ। मानवता एक जीवन-विधि है और उसमें भी श्रेष्ठ विधि आर्य है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य तो विशेषण मात्र है। आर्य भारतीय अथवा आर्य हिन्दू कहा जा सकता है। आर्य न होते हुए भी अर्थात् मानवता उत्कृष्ट न होते हुए भी भारतीय और हिन्दू हो सकता है। आर्य होने से श्रेष्ठ भारतीय अथवा श्रेष्ठ हिन्दू का अभिप्राय लिया जायेगा।

एक बात और भी हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं। कोई व्यक्ति मानता है कि मानव के दस धर्मों के अन्तर्गत धैर्य रखना अथवा सत्य बोलना धर्म का लक्षण है। परन्तु किसी कारणवश अथवा मानवीय दुर्बलता के कारण सत्य बोलने में त्रुटि रह जाती है और उसमें असत्य का मिश्रण हो जाता है, तब भी, इस त्रुटिपूर्ण व्यवहार के होने पर भी यदि मानव मानता है कि सत्य बोलना धर्म है, धैर्य धारण करना धर्म है, ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को दोषयुक्त मानते हुए भी, जबतक वह अपनी मान्यताओं में इन कर्मों को अपना धर्म मानता है और उनपर आचरण के लिए प्रयत्नशील रहता है उसे हिन्दू, भारतीय अथवा वेदानुयायी ही माना जायेगा।

इसका मुख्य कारण यह है कि जीवन परिपूर्ण नहीं है। इसमें अपूर्णता रह जाती है। जबतक मनुष्य का मुख हिन्दू मान्यताओं की ओर है अर्थात् वह उन मान्यताओं के पालन करने का यत्न करता है तबतक वह हिन्दू ही है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक हिन्दू का मुख अपनी मान्यताओं की ओर है वह उसकी पूर्णता की ओर अग्रसर है—यह दूसरी बात है कि कोई दस पग आगे बढ़ा हुआ हो सकता है और कोई दस पग पिछड़ा हुआ—यद्यपि उसकी त्रुटि ... नहीं मानी जा सकती किन्तु वह त्रुटि उसको हिन्दू होने से वंचित नहीं कर सकती।

मनुष्य यद्यपि अपूर्ण है तदपि वह पूर्णता की ओर पग बढ़ा रहा है। जबतक वह उचित दिशा में चल रहा है, अर्थात् वेद-धर्म का पालन कर रहा है, वह हिन्दू ही है। वह कितना आगे अथवा कितना पीछे है, यह प्रश्न उसके हिन्दू होने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R 089.9143
GURS
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Central Library
168919
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

सर्वथा पृथक् है।

आर्य उसको कहा जा सकता है जो अपनी मान्यताओं में दक्ष है। अर्थात् जो अपने कर्मों का अधिक श्रेष्ठता से पालन करता है।

हम पूर्व में बता आये हैं कि विभिन्न देशों की कुछ विशेषतायें होती हैं। उन्हें परम्परायें कहा जाता है। इस दृष्टि से जो आदिकाल से भारत वर्ष में रहते आये हैं उनकी भी कुछ परम्परायें हैं। परम्परायें भी दो प्रकार की होती हैं। एक वे हैं जिनका सम्बन्ध व्यवहार से है और दूसरी परम्परायें वे हैं जिनका सम्बन्ध मान्यताओं के साथ है। व्यवहार मान्यताओं के अनुकूल होना चाहिए। किन्तु वह शत-प्रतिशत मान्यताओं के आधार पर हो, यह आवश्यक नहीं है। उसका कारण भी हम बता आये हैं। हमने बताया है कि मनुष्य की अपूर्णता के कारण यह सम्भव है।

तदपि जबतक मनुष्य के सम्मुख मान्यताओं की बात है और वह पूर्णता की ओर अग्रसर है तबतक उसको उन मान्यताओं का पालक ही माना जायेगा। इस-लिए व्यवहार से पृथक् भी मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। उन मान्यताओं के पोषक को ही भारत देश में रहने का अधिकार है।

इस देश के वासी इसको होटल जैसा अस्थायी निवास अथवा प्रजनन की सुविधा जैसा कोई अस्पताल नहीं मानते। यही कारण है कि देश का सम्बन्ध जन्म अथवा निवास से सम्बन्धित न होकर मान्यताओं से सम्बन्धित है।

संसार-भर के अन्य देशों के लोग क्या मानते हैं अथवा क्या नहीं मानते, यह हमारे विचार करने का विषय नहीं है। पाकिस्तान का ही उदाहरण लीजिये। वहाँ जो इस्लाम का समर्थक नहीं है वह द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाता है। इतना ही नहीं, कुछ देश तो ऐसे भी हैं जहाँ यदि व्यक्ति सुन्नत न कराये तो उसको नागरिकता का अधिकार प्राप्त नहीं होता। कुछ ऐसे भी देश हैं जो धनो-पार्जन तथा उसके भोग पर किसी प्रकार की सीमा का निर्धारण करते हैं, ऐसे देश स्वयं को समाजवादी देश कहते हैं। फिर किसी अन्य देश में वही मानने की स्वीकृति है जो वहाँ के शासक उचित समझते हैं। अतः अन्यान्य देशों की मान्यतायें क्या हैं और क्या नहीं हैं, इनसे हमारा सम्बन्ध नहीं है।

हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि भारत देश का नागरिक होने के लिए कुछ ऐसी मान्यताओं का पालन करना आवश्यक है जो कि परम्परा द्वारा निर्धारित कर दी गई हैं। वे मान्यतायें अति प्राचीनकाल से इस देश में प्रचलित हैं।

न केवल इतना कि वे मान्यतायें प्राचीनकाल से प्रचलित हैं इसलिए माननीय हैं अपितु वे युक्तियुक्त हैं अतः माननीय हैं। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए ही हमने श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक को प्रस्तुत किया है।

इन तर्कसिद्ध मान्यताओं का विस्तार से वर्णन हम अगले परिच्छेदों में करने का यत्न करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

: १ :

आचरण

मान्यताओं और आचरण में भेद भी हो सकता है। मान्यताओं का सम्बन्ध संस्कारों से है। संस्कार जीवात्मा का गुण है। परन्तु आचरण, जोकि कर्म का ही अन्य नाम है, उसमें केवल संस्कार ही कारण नहीं होते।

इसमें पाँच कारण हैं। भगवद्गीता में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥

॥ भ० गी० १८-१४॥

इन पाँच कारणों में से कर्ता ही केवल जीवात्मा और बुद्धि का विषय है। शेष चार कारण कर्ता से पृथक् हैं।

वे चार कारण हैं— शरीर, करण, चेष्टा और देव।

ये चारों संस्कारों से पृथक् हैं। शरीर बनता है दुग्ध, घृत आदि पौष्टिक पदार्थों के सेवन से। यदि शरीर ही दुर्बल है तो, संस्कार चाहे कैसे भी हों, इच्छा-शक्ति अथवा प्रेरणा होते हुए भी, दुर्बल शरीर से सुचारु रूप से कर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ-पैर, वाणी, मल और मूत्र के त्याग के साधन तथा आभ्यान्तरिक इन्द्रियाँ ये शरीर के अतिरिक्त कर्म करने के साधन हैं। पाँच ज्ञान प्राप्त करने के और पाँच इच्छानुसार कार्य करने के यन्त्र और इनमें सम्बन्ध स्थापित करने वाली आभ्यान्तरिक इन्द्रिय, इन सब इन्द्रियों का संगम स्थल मस्तिष्क है।

इन्द्रियाँ कार्य मन के अधीन करती हैं। इस पर भी इनका सामर्थ्य मन से पृथक् है। मन की किसी भी कल्पना को वह कार्यान्वित नहीं भी कर सकतीं जबतक कि इन्द्रियाँ बलवान न हों। अतः इनको पृथक् रूप से कर्म में साधन माना गया है।

चेष्टा, कामना का अपर नाम है। उदाहरण के रूप में यदि किसी ने कभी आम चखा ही न हो, उसकी आम खाने की कामना हो नहीं सकती। इसी प्रकार यदि किसी ने सिनेमा न देखा हो तो उसकी सिनेमा देखने की कामना होती नहीं। आम का चखना अथवा खाना तो मुख और रसना का कार्य है। परन्तु उसके खाने की कामना तो तब ही होती है जबकि पहले से इसका स्वाद चखा हो और उस स्वाद का स्मरण भी हो। अतः चेष्टा कामना इन्द्रियों से पृथक् मानी गई है। यह मन का विषय है। स्मृति के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दैव, पूर्व एवं वर्तमान जन्म के कर्मफल को दैव कहते हैं। जबतक किसी के भाग्य में किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, तबतक वह लाख प्रयत्न करे, वह उसको प्राप्त नहीं होती।

उदाहरणार्थ : किसी व्यक्ति ने कश्मीर के सुन्दर वन-उपवनों के चित्र देखे हैं। उसने वहाँ की सुखद् और स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के गुणों को सुना है। तदपि अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि उनके पास साधन होते हुए भी और कश्मीर जाने की प्रवल इच्छा होते हुए भी वे वहाँ नहीं जा सकते और उन वन-उपवनों को नहीं देख सकते जिनकी कि उनको लालसा है। इसे ही भाग्य कहते हैं।

यही कारण है कि आचरण मान्यताओं के अनुकूल नहीं भी हो सकता है। मान्यतायें संस्कारों के अधीन होती हैं। संस्कार शरीर का विषय नहीं है। संस्कार इन्द्रियों का विषय भी नहीं है। इसी प्रकार ये चेष्टा अथवा कामना के भी विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष में भाग्य के साथ भी इनका किसी प्रकार का सम्बन्ध दिखाई नहीं देता।

मान्यतायें बुद्धि और संस्कार का विषय हैं। संस्कार जीवात्मा पर पड़ते हैं। किसी विचार अथवा व्यवहार के बार-बार चिन्तन अथवा मनन करने से आत्मा पर उसके संस्कार सुदृढ़ होते हैं। इनमें विचार मुख्य कारण होता है। अतएव मान्यतायें आचरण का स्रोत तो हैं परन्तु ये केवल आचरण की देन ही हैं। मान्यताओं के निर्माण के लिए घटनाओं को देख-सुनकर समझने की आवश्यकता है।

देखना, सुनना इत्यादि तो कर्म हैं परन्तु देखे, सुने इत्यादि को समझना और उसपर मनन करना यह बुद्धि का विषय है। अत: बुद्धि द्वारा चिन्तन कर संस्कार बन जाने पर ही मान्यतायें बनती हैं।

यही कारण है कि मान्यतायें संस्कारों का विषय हैं। आचरण मन और इन्द्रियों का विषय है।

और इसी कारण मान्यताओं को संस्कृति भी कहा जाता है। मान्यतायें संस्कारजन्य होती हैं। परन्तु सब प्रकार के संस्कार भारतीय अथवा हिन्दू संस्कृति में नहीं समाते। भारतीय संस्कृति में कुछ विशेष बातें हैं जिन्हें ग्रहण किया जाय तो वे मान्यतायें बन जाती हैं।

प्रथम परिच्छेद में हमने उनकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके अन्तर्गत निम्न बातें मानी जा सकती हैं—

परमात्मा, जीवात्मा, कर्मफल, पुनर्जन्म, धर्मयुक्त कर्म करने से उन्नति अर्थात् श्रेष्ठ जीवन प्राप्त होना और अधर्मयुक्त कर्म करने से निम्नकोटि का जीवन प्राप्त होना, दस धर्म का आचरण, आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, वेद को ज्ञान का स्रोत मानना, स्वाध्यान्मा प्रमद:, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी:।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

हिन्दू एक समाज है। हिन्दू समाज की मान्यतायें हैं। उन मान्यताओं का वर्णन हम इससे पूर्व कर आये हैं। इन मान्यताओं को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो शुद्ध विचार मात्र हैं। परन्तु उन विचारों का सम्बन्ध कर्म से हो सकता है और नहीं भी हो सकता।

उदाहरणतया प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि परमात्मा सर्वज्ञ है। तदपि जब वह किसी प्रकार का दुराचरण करता है उस समय वह भूल जाता है कि सर्वज्ञ परमात्मा स्वयं यह सब जान लेगा। अथवा कर्म के स्वाद में भी वह परमात्मा का सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा होना भूल जाया करता है।

इसी प्रकार बुद्धि से यह मान लेने पर भी कि कर्म का फल अवश्य मिलता है, परन्तु जब दुराचरण करने लगता है तो उस समय वह उसके फल की प्राप्ति को विस्मृत कर देता है। किन्तु यह विस्मरण की स्थिति मान्यताओं के उन्मूलन की सूचक नहीं होती। न ही ज्ञान के अभाव के कारण ऐसा होता है। अधिकांश व्यक्ति जिन्हें कर्ता माना जाता है, वे वासनाभिभूत होकर रसास्वादन के अवसर पर कर्मफल की अनिवार्यता को भूल जाया करते हैं।

कोई व्यक्ति कभी-कभी तो कर्म करने के उपरान्त कर्मफल का स्मरण होने पर अपने कृत्य पर पश्चात्ताप भी करता है किन्तु कभी-कभी अपने अनाचरण को भूलने का प्रयास करता है।

अभिप्राय यह है कि कुछ मान्यतायें ऐसी हैं जिनको स्वीकार करते हुए भी विशेष अवसर पर वे भुला दी जाती हैं। इनमें अधिकांश हैं—परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफल। इनको सुगमता से भूल जाने का कारण इनका इन्द्रियगोचर न होना ही है। वासना के आवेग में बुद्धि और तर्क से सिद्ध बात विस्मृत हो जाया करती है।

प्रायः दुर्बल मन और बुद्धि के कारण ही ऐसा होता है। यही कारण है कि बुद्धि को प्रखर करने की आवश्यकता का उल्लेख किया गया है।

उपरिवर्णित मान्यताओं में पाँचवीं मान्यता है 'श्रेष्ठ कर्म करने से जीवन में उन्नति'। अर्थात् प्राणी को मनुष्य रूप में श्रेष्ठ जन्म प्राप्त होता है। इसमें ज्ञान भी होता है किन्तु सामाजिक सुख-सुविधा के वशीभूत वह विचार कर लेता है कि अभी तो कुछ सुविधा प्राप्त कर ही लो। न्याय, धर्म और सत्य पर आचरण करने के लिए तो पर्याप्त समय है। जीवन सुदीर्घ है। वर्तमान में की गई त्रुटि को भविष्य में सुधार लिया जायेगा।

धर्म दस बताये गये हैं। यह भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को उनका पालन करना चाहिए। उनमें कुछ तो ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध कर्ता के साथ ही होता है। उदाहरण के रूप में 'दम' एक धर्म है। इन्द्रिय निग्रह से यह भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रूप में इसका सम्बन्ध मन तक ही रहता है, वह इन्द्रियों तक नहीं जाता। जब किसी अधर्मयुक्त कर्म को करने से बचा जाये और उसका विचार किया जाये कि यदि यह किया जाता तो अमुक लाभ अथवा सुख प्राप्त होता। इतना मात्र भी, अर्थात् अधर्मयुक्त कर्म को करने का विचार मात्र भी, पाप अथवा अधर्माचरण कहलाता है। यद्यपि अधर्म कार्य-रूप में न होने के कारण उसे कोई देखता नहीं और उससे किसी प्रकार का अपमान आदि नहीं होता, परन्तु उस अधर्म कर्म की कल्पना मात्र भी हानिकारक होती है। अतः पाप कर्म का चिन्तन भी अधर्मयुक्त आचरण कहलाता है। वह दण्डनीय भी है। इसी पाप कर्म को रोकने को दम कहा गया है।

दस धर्मों के अन्तर्गत एक स्थान धीः का भी है। इसका अभिप्राय है बुद्धि का विकास। जो व्यक्ति इस ओर ध्यान नहीं देगा उसकी बुद्धि का विकास नहीं हो सकता। उसके अभाव में वह संसार में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं से भी अनभिज्ञ रह जायेगा। बुद्धि के अविकसित रह जाने से हानि होती है। परन्तु इससे किसी अन्य को हानि नहीं पहुँचती। बुद्धि विहीनता अधर्म है और वह हानिकारक भी है। बुद्धि विकसित न होने से मानव स्वयं किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। विपरीत इसके उसकी अवनति होती है।

यही बात "विद्या" अर्थात् अनादि पदार्थों के ज्ञान की है। जो मनुष्य स्वयं को विद्या से वंचित रखता है उसको अपार हानि होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि धर्माधर्म का सम्बन्ध सदैव कर्ता से किसी दूसरे से ही हो यह आवश्यक नहीं। दूसरों से सदा असम्बद्ध होते हुए भी यह मनुष्य के हानि-लाभ में कारण होता है।

ऐसी हैं हिन्दू समाज की मान्यतायें। ये मान्यतायें जब जीवात्मा तक पहुँच जाती हैं तो ये संस्कार कहलाती हैं।

इन मान्यताओं में कुछ कर्म भी हैं जिनको मान्यताओं के समान माना गया है। उदाहरणार्थ; हमने एक धर्म की व्याख्या करते हुए बताया है—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।" सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के विनाश करने से व्यक्तिगत रूप में कर्ता का किसी प्रकार लाभ नहीं होता। कभी-कभी तो इन कार्यों में व्यक्तिगत हानि की भी सम्भावना होती है, तदपि इसे करणीय माना गया है। उसका कारण यह है कि हिन्दू एक समाज है, यह किसी व्यक्ति तक ही सीमित रहने वाला व्यवहार नहीं है। यह मान्यता समाज के कल्याण के रूप में है। समाज का कल्याण होने पर व्यक्ति का भी कल्याण होता है। कभी-कभी इसका व्यक्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं भी हो सकता। इस प्रकार यह सामाजिक कर्तव्य होते हुए भी मान्यता में गिना जाता है।

इसी प्रकार संस्कार से यह अभिप्राय है कि अपना सन्तानसूत्र न टूटने दे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे व्यक्ति को कुछ लाभ होगा अथवा नहीं, यह विवादास्पद है। परन्तु यह निर्विवाद है कि इससे समाज का कल्याण होता है। अतः स्पष्ट है कि हिन्दू समाज की मान्यतायें न केवल व्यक्तिगत ही हैं, अपितु समष्टिगत भी हैं।

तदपि कुछ व्यक्तिगत मान्यतायें भी हैं। वे मान्यतायें समष्टि का स्पर्श न करते हुए भी व्यक्ति का कल्याण करती हैं।

एक विद्वान् ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि व्यक्तिगत व्यवहार में मनुष्य को स्वतन्त्र और सामाजिक व्यवहार में परतन्त्र रहना चाहिए। यही कारण है कि कुछ मान्यतायें व्यक्तिगत होती हैं और मनुष्य उनमें स्वतन्त्र होता है। कुछ मान्यतायें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से नहीं है तदपि वह व्यक्ति के लिए करणीय ही हैं।

इन मान्यताओं में एक बात सांझी है। वह यह कि ये सारी मान्यतायें बुद्धि और जीवात्मा से सम्बन्धित होती हैं। ऐसा कोई भी कर्म जिसका सम्बन्ध बुद्धि और जीवात्मा से नहीं है, वह माना जाये अथवा न माना जाये इसके विषय में कुछ विशेष विचार नहीं किया गया है।

उदाहरणार्थ, किसी काल में मस्तक पर तिलक लगाना अत्यधिक प्रचलित व्यवहार था। यज्ञ कर्मों आदि में किसी समय विशिष्ट परिधान धारण करने का विधान था। समुद्र यात्रा को वर्जित बताया जाता था। मन्दिरों को विशेष रंग-रूप का बनाने की प्रथा थी।

तिलक भी किसी वस्तु विशेष का विशिष्ट प्रकार से ही लगाया जाता था। किसी भी वस्तु का अथवा किसी भी प्रकार से तिलक नहीं लगाया जाता था।

पूजा के समय पूर्वाभिमुख होकर बैठने का विधान था। देवता का भी विशेष नाम-रूप माना जाता था। वे नाम-रूप उसके वास्तविक अंग, गुण से अपने-अपने भिन्न-भिन्न भी हो सकते थे तथा वे एक समान भी हो सकते थे।

इतनी विभिन्नता होने पर भी हिन्दू अथवा भारतीय समाज उन मान्यताओं के कारण एक समान ही था। उसका मुख्य कारण यही था कि ये मान्यतायें बाहरी होने के कारण केवल गौण होती थीं, उससे समाज में विघटन नहीं होता था।

उदाहरणार्थ शिव और भैरव की मूर्ति की परस्पर तुलना की जा सकती है। दोनों के उपासक शिव अथवा भैरव को अपना इष्टदेव मानते हुए भी वे स्वयं को परस्पर विरोधी नहीं मानते। इसी प्रकार अष्टभुजी दुर्गा की मूर्ति मनोहारी है किन्तु काली की मूर्ति विकराल है। इन दोनों के उपासक अपनी-अपनी इष्ट देवी की पूजा करते हुए भी वे परस्पर एक-दूसरे का विरोध नहीं करते। सभी अपने-अपने इष्टदेव को परमात्मा की अनन्त शक्ति—प्राण—का प्रतीक मानते हैं और उन सबमें परस्पर किसी प्रकार का वैर-विरोध नहीं होता।

इसी प्रकार मान्यताओं में दो श्रेणियाँ इस कारण भी हैं कि उनमें से एक तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष इन्द्रियों के अनुभव करने की है किन्तु दूसरी मान्यताओं का इन्द्रियों के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। उनका सम्बन्ध बुद्धि और जीवात्मा से होता है। पहली प्रकार की जो मान्यतायें हैं उनको सभ्यता कहा जाता है और दूसरी प्रकार की जो मान्यतायें हैं उनको संस्कृति कहा जाता है।

यह भी आवश्यक नहीं कि सबको दोनों ही प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करना होगा। सभ्यता के अन्तर्गत जो मान्यतायें आती हैं उनमें से एक-दो अथवा सभी भी स्वीकार की जा सकती हैं तथा वे नहीं भी मानी जा सकतीं। उनमें कोई भी वैष्णव, शैव, शाक्त आदि-आदि मत वाला भी हो सकता है अथवा कोई इन सबसे परे भी हो सकता है। किन्तु सांस्कृतिक मान्यतायें सब ही माननी होती हैं। यदि उनमें से कोई व्यक्ति किसी एक को भी अस्वीकार करता है तो समझा जायेगा कि उसके हिन्दुत्व में कुछ न्यूनता है।

किन्तु ऐसा भी नहीं है कि किसी एक या दो मान्यता को मानने वाला हिन्दू ही नहीं रहता। वह हिन्दू रहता है किन्तु उसके हिन्दुत्व में न्यूनता मानी जाती है। परन्तु सभ्यता के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है। सभ्यता-सम्बन्धी किसी भी मान्यता को न मानने से किसी के हिन्दुत्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। अपने-अपने मत में वह विशेषता प्राप्त कर सकता है परन्तु क्योंकि हिन्दू होने के लिए सभ्यता के रूप में अर्थात् बाहरी लक्षण होने से वे अनिवार्य नहीं हैं, इस कारण हिन्दू होने में एक के मानने अथवा न मानने से हिन्दूपन में वृद्धि अथवा न्यूनता नहीं मानी जाती।

उदाहरण के रूप में किसी समय सिर पर चोटी धारण करना हिन्दुत्व का अमित लक्षण माना जाता था। यह धर्म का लक्षण था। कभी ऐसा भी समय था जबकि इसकी उतनी ही प्रतिष्ठा थी जितनी कि मुसलमानों में सुन्नत की प्रथा है। किन्तु आज देखने में आता है कि हिन्दुओं के सिर पर से चोटी सर्वथा विलुप्त हो गई है। तदपि इसके अभाव में कोई भी हिन्दू किसी अन्य हिन्दू अथवा कतिपय चोटीधारी हिन्दू से वह स्वयं को न्यून नहीं समझता और न ही चोटीधारी हिन्दू चोटी विहीन हिन्दू को स्वयं से न्यून समझता है।

लगभग पचास-साठ वर्ष पूर्व जो कोई भी व्यक्ति मन्दिर में जाता था और वहाँ जाकर पूजा-अर्चना करता था, उसको भक्त माना जाता था और इस कारण वह सर्वश्रेष्ठ हिन्दू कहा जाता था। किन्तु आज तो मन्दिरों में जाकर पूजा करने वालों की संख्या नगण्य है। किन्तु इस कारण कोई हिन्दू नहीं रहा अथवा जो मन्दिर में पूजा के लिए नहीं जाता इस कारण वह हिन्दू नहीं है, ऐसा कोई नहीं समझता।

यही बात सभ्यता के अन्तर्गत आने वाली अन्य बातों के सम्बन्ध में भी है। किन्तु जहाँ सांस्कृतिक मान्यताओं में कमी आ जाती है उससे हिन्दुत्व को ठेस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगती है और उसके कारण समाज उसको हीन मानता है।

अभिप्राय यह कि सांस्कृतिक मान्यतायें जिनका सम्बन्ध विचार से, बुद्धि और जीवात्मा से है, हिन्दुओं में उनको 'आवश्यक' माना जाता है। उनमें यदि किसी प्रकार की कमी है तो उस मानव में, अर्थात् उस हिन्दू की श्रेष्ठता में कमी है।

: ३ :

परमात्मा को मानना अथवा सत्य बोलना इत्यादि आत्मा और बुद्धि से सम्बन्धित क्यों माने जाते हैं? यह एक प्रश्न है। उदाहरण के रूप में हमने जो मान्यतायें पिछले पृष्ठों में वर्णित की हैं, उनमें सर्वप्रथम है परमात्मा को मानना। इसका सम्बन्ध श्रद्धा और विश्वास से माना जाता है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इसका बुद्धि से क्या सम्बन्ध है?

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि उपरिवर्णित सभी सांस्कृतिक मान्यताओं का बुद्धि से सम्बन्ध है। बुद्धि द्वारा स्वीकृत प्रत्येक बात का जीवात्मा से सम्बन्ध होता है।

बुद्धि से सम्बन्ध को तर्कसिद्ध सम्बन्ध कहते हैं। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सांस्कृतिक मान्यता तर्कसिद्ध है। वह युक्ति से अर्थात् विचार से सत्य सिद्ध होती है। कुछ लोग, उनमें कुछ स्वयं को सर्वश्रेष्ठ हिन्दू भी घोषित करते हैं, वे कहते हैं कि परमात्मा श्रद्धा का विषय है। उसमें बुद्धि का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। हमारी दृष्टि में ऐसा कहने वाले लोग हिन्दू समाज की आस्था को ही नहीं समझ पाये हैं। वस्तुस्थिति यह है कि उनकी स्वयं अपनी बुद्धि अविकसित होने के कारण वे प्रत्यक्ष बात को भी नहीं देख सकते तो वे इसे तर्क से असिद्ध मानने लगते हैं।

इस सम्बन्ध में एक प्रचलित कहावत है कि यदि कोई चक्षुविहीन कहे कि सूर्य है ही नहीं तो इस सम्बन्ध में उसको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उसके कहने से सूर्य का न होना सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार परमात्मा, अथवा हिन्दू समाज की अन्य सांस्कृतिक मान्यताओं को बुद्धिगम्य न मानने वाला वास्तव में स्वयं को बुद्धि विहीन सिद्ध कर रहा होता है।

हिन्दुओं के मान्य ग्रन्थों में षट् दर्शनों का विशेष महत्त्व है। उनमें से एक दर्शन ग्रन्थ का नाम है ब्रह्मसूत्र। उसे प्रचलित भाषा में वेदान्त दर्शन भी कहा जाता है। यद्यपि प्रवक्ता ने इसको ब्रह्मसूत्र ही नाम दिया था। अर्थात् इस दर्शन के माध्यम से ब्रह्मशास्त्र का दर्शन होता है।

ब्रह्म क्या है? वह किसका दर्शन है? यह सब ब्रह्मसूत्रों में बताया गया है। वेद एवं मुख्य उपनिषदों में भी इसका वर्णन है।

एक उपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

॥श्वेता० १-९॥

इसका अर्थ है कि ज्ञानवान् और अज्ञानवान्, शक्तिशाली और शक्तिविहीन, दो अजन्मा अर्थात् अनादि तत्त्व हैं। एक अन्य भी अनादि तत्त्व है जो अज्ञानी के भोग के लिए है। सब रूपों का बनाने वाला तत्त्व अनन्त है। वही अजा और ईश कहा है। जो इस प्रकार के तीन ब्रह्म जानने वाला है वह सब कुछ जान लेता है।

वेद में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन है। वहाँ कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

॥ऋ० वे० १-१६४-२०॥

इसका अर्थ है—दो गतिशील चेतन तत्त्व हैं जो एक वृक्ष (निश्चल तत्त्व काट-छाँट करने योग्य) तत्त्व पर स्थित हैं। एक उस वृक्ष के फलों को स्वाद से खाता है और दूसरा केवल साक्षी मात्र है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि तीन अक्षर अविनाशी तत्त्व हैं। ये तीनों ब्रह्म हैं। इसी ब्रह्म के विषय में ब्रह्मसूत्र नामक दर्शन शास्त्र में कहा गया है।

ब्रह्मसूत्रों में इन तीनों के विषय में क्या कहा गया है और किस प्रकार कहा गया है, यह समझ लेना भी परमावश्यक है। ये तीनों ब्रह्म हैं। तीनों अक्षर हैं। ब्रह्मसूत्रों में तर्क द्वारा इन तीनों की सिद्धि का वर्णन किया गया है। उसमें इनके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है तथा इनके मुख्य-मुख्य गुणों की भी सिद्धि की गई है।

यह सब कहने का हमारा अभिप्राय यही है कि ब्रह्मसूत्र हिन्दुओं का मान्य ग्रन्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि हिन्दू मान्यता परमात्मा और इससे सम्बन्धित अर्थात् सबकुछ को तर्कसिद्ध मानता है।

यहाँ पर हम संक्षेप में परमात्मा की सिद्धि के विषय में कुछ संकेत मात्र लिख देना भी उपयुक्त समझते हैं, जिससे कि पाठक यह सरलता से ग्रहण कर सकें कि हिन्दुओं की सांस्कृतिक मान्यताओं को हम बुद्धि पर किस प्रकार आधारित मानते हैं।

ब्रह्मसूत्र के आरम्भ में ही एक सूत्र है :

जन्माद्यस्य यतः ॥ब्र० सू० १-१-२॥

इसका अर्थ है जिससे जन्मादि अर्थात् बनना, बने रहना और अन्त होना होता है, वह ब्रह्म है।

इस दृष्टिगोचर जगत् के विषय में कहा गया है कि जो इसके बनाने, इसके चालू रखने और इसको समाप्त करने की सामर्थ्य रखता है, वह परमात्मा है।

यह तो स्पष्ट ही है कि वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी, जिनकी दृष्टि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा को मानना आवश्यक नहीं है, यह मानते हैं कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि कभी नहीं थे और बने हैं। इस कारण सूत्रकार ने कहा है कि जिसने ये बनाये हैं, जो इनको बनाकर चालू रखे हुए है, वह परमात्मा है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि यह सब अपने आप निर्मित हो गया और चालू हो गया है। परन्तु सिद्धान्त रूप में अब वर्तमान विज्ञान भी इसको असम्भव स्वीकार करने लगा है। उदाहरण के रूप में वर्तमान वैज्ञानिकों में विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन का कहना है कि :

Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state.

अर्थात् प्रकृति का कोई कण अपनी स्थायी स्थिति अथवा सीधी रेखा में निश्चित वेग से गति की स्थिति को बदल नहीं सकता, जबतक कि कोई बाहरी शक्ति उसपर प्रभाव न डाले।

अतः निश्चल प्रकृति से किसी बाहर की शक्ति ने ऐसा किया है कि प्रकृति द्वारा बनाये गये पदार्थ चलायमान हो गये हैं।

ब्रह्मसूत्र का कथन है कि वह जो चलायमान करने वाली बाहरी शक्ति है, वह परमात्मा है। इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार परमात्मा का होना सिद्ध किया गया है।

इसी प्रकार प्रकृति और जीवात्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध किया जा सकता है।

हम समझते हैं कि हिन्दू समुदाय की सब सांस्कृतिक मान्यतायें तर्क से भी सत्य सिद्ध की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिए न्यायदर्शन में जीवात्मा की सिद्धि इस प्रकार की गई है। वहाँ आत्मा के लिंगों का वर्णन किया है। वहाँ कहा है :

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मना लिंगम् ।।न्या० द० १-१-१०।।

अर्थात् इच्छा (अनुकूल की) द्वेष (प्रतिकूल से) सुख (अनुकूल से) दुःख (प्रतिकूल से) प्रयत्न (इच्छा) इत्यादि की उपलब्धि के लिए कर्म (ज्ञान चेतना) ये आत्मा के लिंग हैं।

लिंग के विषय में कहा गया है कि लिंग पदार्थ के विशेष गुण का नाम है। जो पदार्थ में सदा रहे और किसी दूसरे पदार्थ में न हो।

अतः दर्शनशास्त्र कहता है कि ऊपर बताये गये छः गुण जिसमें हों, उसमें आत्म तत्त्व होगा। अतः इन गुणों के ज्ञान से जीवात्मा का होना सिद्ध होता है।

जीवित मनुष्य में ये गुण हैं। मनुष्य के शव में ये गुण नहीं होते। अतः मृत शव से जीवात्मा निकल गया होता है, यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार जीवात्मा की विद्यमानता की सिद्धि होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार अन्य मान्यतायें भी सिद्ध की जा सकती हैं।

सिद्ध करने की इस विधि को तर्क अर्थात् अनुमान प्रमाण कहते हैं। उन सभी पदार्थों की सिद्धि इस अनुमान से सिद्ध की जा सकती है जो आँख आदि इन्द्रियों से न जानी जा सके।

गुणों को देखकर गुणी का ज्ञान होता है।

यह सब कुछ भारतवासियों को तब भी ज्ञात था जब भरत को इस देश का राज्य प्राप्त हुआ था, किन्तु उसने राज-पाट छोड़कर संन्यास ले लिया था।

यह बात किस काल की है?

: ४ :

सृष्टि सम्वत्

काल गणना करने के लिए किसी प्रारम्भिक बिन्दु का निश्चय करना पड़ता है, जहाँ से कि गणना आरम्भ की जा सके। उदाहरण के रूप में योरोपीय ईसाई राज्यों में काल की गणना हज़रत ईसा के फाँसी दिये जाने के दिन से आरम्भ होती है। इसे ईसा सम्वत् कहते हैं। इस्लामी राज्यों में हज़रत मोहम्मद के मक्का से मदीना जाने के काल से गणना आरम्भ होती है। इसे हिजरी सम्वत् नाम दिया गया है। भारत में मुसलमानों के आने से पूर्व दो प्रकार से काल गणना होती थी। एक गणना सार्वभौमिक मानी जाती थी। यह युग गणना के नाम से विख्यात थी। और दूसरे स्थानीय राजा-महाराजा अपने तथा अपने पारिवारिक राज्य की स्थापना से गिनते थे।

सार्वभौमिक गणना एक ही थी जो सम्पूर्ण देश में प्रचलित थी। यह युग-गणना के नाम से विख्यात है। यह पुराणादि ग्रन्थों तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलती है जो पूर्ण देश की व्यवस्था का वर्णन करने के लिए लिखे गये थे।

हम यहाँ महाभारत ग्रन्थ से उस गणना का वृत्तान्त लिख देना चाहते हैं।

यह सृष्टि जिसमें सूर्यमण्डल एक छोटा-सा भाग है, बनी है। इसका बनना जब से आरम्भ हुआ है, तब से ही यह सम्वत् आरम्भ किया गया माना गया है। इस सम्वत् को सृष्टि सम्वत् भी कहते हैं। जब यह सृष्टि बनती है, उसको ब्रह्मदिन कहते हैं। और जब वह विनष्ट हो जाती है उसे ब्रह्मरात्रि कहते हैं।

जिस प्रकार वर्तमान दिनमान नापने के लिए दिन-रात के ठीक मध्य के उपरान्त आरम्भ होता है वैसे ही ब्रह्मदिन, ब्रह्मरात्रि के मध्य के उपरान्त आरम्भ होता है। यह क्यों होता है, इस विषय में वर्तमान दिनमान वाले क्या युक्ति देते हैं, यह तो ज्ञात नहीं, परन्तु सृष्टि सम्वत् वाले तो युक्ति देते हैं। उनका कहना है कि प्रकाश तो सूर्य बन जाने और सूर्य में आपः कणों के यज्ञ में सामग्री की भाँति पड कर स्वाहा होने पर होता है। परन्तु सृष्टि-रचना कार्य तो सूर्य बनने और उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप: का हवन होने से बहुत पहले से आरम्भ हो चुकी थी।

यहाँ यदि रचना-प्रक्रिया के विषय में कुछ लिख दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। यह प्रक्रिया वेदादि शास्त्रों में व्याख्या सहित लिखी है। उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

प्रलय काल में जब पूर्ण जगत् परमाणु रूप था, तब व्योम में पूर्ण अन्धकार था। सबको निश्चित अप्रज्ञात (न जाना जाने योग्य) ही कहा है। उस समय तीन पदार्थ थे। एक था स्वधा, स्वधा का अभिप्राय है प्रकृति परमाणु रूप। परमाणु साम्यावस्था में थे। साम्यावस्था का अभिप्राय है तीन शक्तियों की संतुलित अवस्था। वे तीन शक्तियाँ हैं: सत्व, रजस् और तमस्। ये शक्तियाँ परस्पर साम्यावस्था में थीं।

एक अन्य भी पदार्थ था, यह निश्चय ही परमात्मा का तेज था। इसे वेद में 'आनीत अवातम्' कहा है। ऐसा ऋग्वेद के १०-१२६-२ में कहा गया है।

ब्रह्मरात्रि के मध्य के तुरन्त उपरान्त 'आनीत अवातम्' परमात्मा का तेज जागृत हो उठा और साम्यावस्था में परमाणुओं पर लगाम की भाँति आरूढ़ हो गया। इसका वर्णन ऋग्वेद १-१६३-१, २ में किया गया है। वेद परमाणु को जो त्रित: (साम्यावस्था में परमाणु) कहा है, इसका उल्लेख ऋ० १०-१२६-३ में भी किया गया है। इस तेज के जागृत होने के काल को प्रारम्भिक बिन्दु माना है काल गणना का। इस समय से सृष्टि सम्वत् आरम्भ होता है।

आरम्भ में ही परमात्मा का तेज, जिस वेद मन्त्र में तेज कहा है, परमाणु, जिस वेद में त्रित कहा है, पर लगाम की भाँति आरूढ़ हुआ। परमाणु की साम्यावस्था भंग हुई और असाम्यावस्था आरम्भ हुई। वहाँ कहा है कि पहले परमाणु के भीतर इन्द्र छिपा हुआ था। अब यह प्रकट हुआ और अपनी तीन प्रकार की शक्ति की रश्मियाँ बाहर फेंकने लगा। इससे आस-पास के परमाणु गतिशील हो गये और फिर उनके संयोग बनने लगे। ये निबन्धन कहे जाते हैं। इनको आप: कहा है। ये तीन प्रकार के बनते हैं और फिर ये कारण हो जाते हैं जगत् के सब पदार्थ बनाने के लिए।

जब परमाणुओं में गति उत्पन्न हुई तो परमाणु और उससे बने पदार्थ वृत्त-आकार गति में घूमने लगे, और प्रकृति में वेग से परिवर्तन होने लगे। इस अवस्था को हिरण्यगर्भ कहा है। परमाणुओं की भाग-दौड़ और उनमें आकर्षण-विकर्षण के कारण ऊष्मा और प्रकाश उत्पन्न हुए। इसे उषा का नाम दिया गया। तबतक सूर्य नहीं बना था, यह प्रकाश ऐसा था जैसा दिन आरम्भ होने और सूर्य उदय होने से पूर्व आकाश में फैल जाता है। यह प्रकाशपूर्ण बादल भी अब व्योम में अनेक घूमते दिखाई देते हैं। वर्तमान युग के वैज्ञानिक इनको नेबुली कहते हैं। किन्तु वेद की भाषा में इनको हिरण्यगर्भ कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी मान्यता है कि एक देवयुग तक हिरण्यगर्भ पकता रहा। इसमें बनने वाले सूर्य-चन्द्र-तारागण इत्यादि बने तो यह फटा और फिर सूर्यमण्डल के आकार-विस्तार का जगत् बना। तबतक सूर्य बन गया था। आरम्भ में तो सूर्य और पृथिवी दोनों ही अन्धकारमय थे। परन्तु जिस ग्रह पर आपः और परमात्मा की शक्ति का संयोग हुआ वह सूर्य की भाँति प्रकाशमान हो गया।

इसका महाभारत के शान्ति पर्व में एक अलंकार के रूप में वर्णन किया है। वहाँ ब्रह्मा एक घटना विशेष पर परमात्मा से सहायता माँगता हुआ कहता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मा ही परमात्मा की वह प्राणशक्ति है जो सृष्टि-रचना करती है। जब इस रचना-शक्ति का क्रम किसी कारण से अवरुद्ध हुआ तो अलंकार रूप में वह शक्ति अर्थात् ब्रह्मा परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ कहता है—मेरा पहला जन्म हुआ था आपके मन में। परमात्मा के (ऋ० १०-१२९-३) मन में रचना का बीज बन गया। बस यह काल सृष्टि सम्वत् का आरम्भ हुआ।

ब्रह्मा ने कहा है कि मेरा दूसरा जन्म, अभिप्राय है, कार्य आरम्भ हुआ अब परमात्मा के नेत्र से। इस अलंकार का अभिप्राय है कि आँख से देखकर मार्ग निश्चय होता है। अतः सृष्टि-रचना शक्तियों का मार्ग दर्शन हुआ कि उसे क्या करना है। वेद के अनुसार परमाणुओं पर लगी लगाम ने आँख खोली अर्थात् भाँति-भाँति के परमाणुओं को खोल दिया और इसमें से इन्द्र प्रकट हुआ।

ब्रह्मा आगे कहते हैं कि मेरा तीसरा जन्म हुआ तब वाक् प्रकट हुई। वेद में यह कहा गया है कि इन्द्र के प्रकट होने से जब निबन्धन होने लगे तो वेद छन्दों में प्रसारित होने लगा। यह आपः के द्वारा होने लगा था।

आगे कहा है कि ब्रह्मा का चौथा कर्म आरम्भ हुआ। यह कार्य सुनने के लिए कानों का निर्माण था। अर्थात् वेद छन्दों में प्रसारित होने लगा तो परमाणु ही उनको सुनने लगे।

आगे कहा गया है कि वायु परमात्मा की नासिका से बहने लगी। वायु का अभिप्राय हमारी श्वास लेने वाली वायु नहीं। वेद में वायु का अर्थ गति है। परमात्मा द्वारा पदार्थों में गति हुई तो सूर्य इत्यादि नक्षत्र और ग्रह चलने लगे। इस गति से ब्रह्माण्ड अर्थात् सूर्यमण्डल बन गया। यह ब्रह्मा का छठा जन्म-कार्य था। इस समय पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमने लगी। तब यह ठण्डी हो गई थी।

तब ब्रह्मा का सातवाँ कर्म आरम्भ हुआ। इससे पृथिवी पर वनस्पतियाँ, कीट-पतंगे, पशु और फिर मनुष्य उत्पन्न हुए।

मनुस्मृति में इसका वर्णन किया गया है। वहाँ यह भी बताया गया है कि तब ब्रह्मा ने पृथिवी रूपी कमल पर बैठकर वनस्पतियाँ, कीट, पतंगे, पशु और अन्त में मनुष्य उत्पन्न किये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाभारत में कहा गया है कि जो वेद वाणी पहले कही जा रही थी वह अवरुद्ध हो गई। अर्थात् उसका कार्य आगे नहीं चल रहा था। तब ब्रह्मा ने परमात्मा की सहायता से वेद (ईश्वरीय ज्ञान) का मार्ग सुलभ किया। यह मार्ग कैसे सुलभ किया गया, इसका वर्णन महाभारत में तो नहीं किया गया है किन्तु वेद में इसका वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार कि ऋषि उत्पन्न हुए और वे प्रसारित होने वाले वेद-ज्ञान को समझकर मनुष्यों को समझाने लगे।

ऋषियों की उत्पत्ति सूर्य के प्रयत्न से हुई। जिस शक्ति ने ऋषि उत्पन्न किये उसे हयग्रीव कहा गया है। हयग्रीव का अर्थ है सूर्य की किरण।

तब यह ज्ञान मनुष्य को मिला।

यह प्रक्रिया ब्रह्मरात्रि के तुरन्त उपरान्त आरम्भ हुई। उस समय घोर अन्धकार था। और जब सूर्य इत्यादि बने तो यह दिन का उदय माना जाता है। दिन आरम्भ से तात्पर्य ब्रह्मरात्रि के समाप्त होने से ही होता है। परन्तु दिन का उदय प्रकाशयुक्त हुआ जब परमात्मा ने नेत्र खोला। अर्थात् ब्रह्मा के दूसरे मन्वन्तर के मध्य में।

इस समय दिन का सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है और ब्रह्मदिन का उदय होकर मध्यदिन व्यतीत हो चुका है और अब दिन अस्त होने की ओर चल रहा है।

इसकी सौर वर्ष में भी गणना की गई है। यह कहा जाता है कि ब्रह्मरात्रि के मध्य को व्यतीत हुए १,९७,२९,४०,०८४ वर्ष हो चुके हैं।

यह काल ब्रह्मरात्रि के मध्य से व्यतीत हुआ कहा जाता है। इसमें मनुष्य का इस सृष्टि में आने का अनुमान ३९,००,००० वर्ष माना जाता है।

यहाँ इतना बता दिया जाये तो ठीक होगा कि प्राणी-रचना का आरम्भ वर्तमान युग के सतयुग के आरम्भ में हुआ था। इसे लगभग ३९ लाख वर्ष हो चुके हैं।

वैज्ञानिक भी अनुमान लगाते हैं और लगभग ५,००,००,००,००० (पाँच अरब) वर्ष मानते हैं। यह भारतीय गणना से बहुत अधिक है।

हम यहाँ पर इन दोनों में से किसी को ठीक अथवा किसी को गलत नहीं कह रहे हैं। हम केवल भारतीय गणना के आधार पर यह बात कर रहे हैं।

इस गणना के आधार पर मानव-सृष्टि को आरम्भ हुए लगभग ३९,००,००० वर्ष हुए हैं। और उस समय इस चतुर्युगी के सतयुग का प्रारम्भ कहा जाता था।

परन्तु सतयुग के अन्त और त्रेतायुग के आरम्भ में ही एक वृहत् जल-प्लावन हुआ था और उस प्लावन में पूर्ण भूमण्डल पर महान् विनाश हुआ था। उससे पूर्व का वृत्तान्त तो उन लोगों से सुना सुनाया ही मिलता है जो उस प्लावन के अवसर पर किसी प्रकार बच गये थे। वह वृत्तान्त बहुत ही संक्षिप्त है।

जल प्लावन के उपरान्त त्रेतायुग के आदि की ही यह कथा है जिसका वर्णन वायु पुराण के आधार पर हमने किया था। वहाँ हमने बताया था कि स्वयम्भुव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनु के कुल में प्रियव्रत एक राजा हुआ है। उसकी एक कन्या थी। उस कन्या की सन्तान 'भरत' था।

अब इस गणना से वह काल जब यहाँ भरत का राज्य था, लगभग २१,००,००० वर्ष पहले की बात है।

भरत के काल में वर्तमान हिन्दू संस्कृति बीजरूप में विद्यमान थी।

: ५ :

त्रेता युग के आरम्भ से

महाप्लावन के उपरान्त मनु की सन्तान की दो शाखायें हो गई थीं। एक तो पुत्र की ओर से और दूसरी पुत्री की ओर से। पुत्रों में तो इक्ष्वाकु ने अयोध्या में अपना राज्य स्थापित किया और पुत्री की सन्तान ने सागर द्वीपों में राज्य स्थापित किया। उस समय समुद्र, प्लावन के उपरान्त, उतर रहा था और भूमि समुद्र से बाहर को उभर रही थी।

भरत इला की सन्तान में से थे। जैसे इक्ष्वाकु को मनु की सन्तान कहा जाता है वैसे ही प्रियव्रत मनु की सन्तान कहा जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इला और प्रियव्रत में कुछ पीढ़ियाँ विलुप्त हो गई हैं। उनका वर्णन महाभारत में नहीं है। महाभारत में जो नामावलि है वह इस प्रकार है—

दक्ष—अदिति—विवस्वान—मनु—इला—पुरुरवा—आयु—नहुष—ययाति—पुरु।

इस नामावलि में ही कहीं इला के उपरान्त प्रियव्रत और भरत का नाम है।

यदि यह अनुमान ठीक है तो यह मानना पड़ेगा कि ययाति से पूर्व यह वंश भारतीय नहीं था। उस समय इस देश का नाम भारत भी नहीं था। सम्भवतया जैसा कि वायुपुराण में उल्लेख है, इस देश का नाम हिमान्त दक्षिण देश था।

वायुपुराण का उल्लेख इस प्रकार है—

हिमाह्वक्षिण वर्षं भरताय व्यवदेयत् ॥ वा० पु० १-३२-५२ ॥

अर्थात् हिम नाम वाला जो दक्षिण वर्ष था वह भरत को दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु इत्यादि नदियों से प्लावित देश भरत को मिला। इसका अभिप्राय कदाचित् वर्तमान पंजाब है। भरत वंश और सूर्य वंश पृथक्-पृथक् फलते-फूलते रहे। दोनों का परस्पर सम्बन्ध भी था किन्तु राज्य पृथक्-पृथक् थे।

एक बात स्पष्ट रूप से कही गई है। वह यह कि यह त्रेता युग का आरम्भ था। यदि ज्योतिष की युग गणना ठीक मानी जाय तो इस बात को आज बीस लाख वर्ष के लगभग बीत चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी पुरानी बात को सुनकर वर्तमान समय के पढ़े-लिखे कहे जाने वाले लोग संशय में पड़ जाते हैं। वे उस काल की बातों को खोद-खोदकर मानो भूमि के नीचे से निकालने का यत्न कर रहे हैं। पुरातत्त्व विभाग के कर्मचारी देश के विभिन्न भागों में खुदाई कर रहे हैं। किन्तु अभी तक वे हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो से प्राचीन अन्य किसी सभ्यता अथवा संस्कृति का पता नहीं कर पाये हैं।

हमारी दृष्टि में इसमें संशय के लिए कोई स्थान नहीं है। तदपि हड़प्पा और मोहन्जोदड़ो संस्कृति की ही छीछालेदर उड़ाने के स्थान पर हम इस विषय पर कुछ कहना नहीं चाहते। उस काल के अथवा उस काल के भी पूर्व के चिह्न क्यों नहीं मिलते, इस विषय पर युक्ति अथवा प्रतियुक्ति करना यहाँ पर हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। पुराणों और ज्योतिषशास्त्र के अनुसार जो हम समझ पाये हैं उसका ही उल्लेख हमने किया है। उससे यह ज्ञात होता है कि ययाति कहीं गांधार आदि देशों का राजा था। उसका सम्पर्क असुर देश सीरिया के विषपर्वा से हुआ था। और उसकी ही कोई सन्तान पुरु थी और उसमें ही अग्निन्ध और भरत हुए हैं। उनको हुए लाखों वर्ष बीत चुके हैं। वर्तमान हिन्दुस्तान के घटक उसी संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं।

यदि मनु की दूसरी सन्तान की शृंखला देखी जाये तो उससे भी कुछ ऐसा ही निष्कर्ष निष्पन्न होगा। उनके वंश की नामावलि कुछ इस प्रकार लिखी हुई मिलती है—

ब्रह्मा—मरीचि—कश्यप—विवस्वान—मनु—इक्ष्वाकु।

इक्ष्वाकु के उपरान्त सूर्यवंश चला। और उसमें राम हुए।

इक्ष्वाकु त्रेता-युग के आरम्भ में हुआ था। ऐसा महाभारत में वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि इक्ष्वाकु वंश वेदानुयायियों का वंश था। राम के पिता के काल में अयोध्या में घर-घर में वेद गान होता था।

त्रेता-युग का आरम्भ आज से २१ लाख वर्ष पूर्व हुआ था और राम का काल त्रेता-युग के अन्त अर्थात् आज से नौ लाख वर्ष पूर्व माना जाता है।

योरोपीय परम्परा द्वारा पठित भारतीय भी इसे गल्प ही मानते हैं। कुछ भी हो हमारा यह कहना है कि हम यहाँ इस देश में हैं। हम स्वयं को वेद-धर्म के मानने वाले कहते हैं। हमारे पास तो पुराण इत्यादि ग्रन्थ हैं जो हमको बीस लाख वर्ष पूर्व से यहाँ का निवासी सिद्ध करते हैं। यदि कोई इसको गलत कहता है तो उसको चाहिए कि वह कोई प्रमाण प्रस्तुत करे जिससे कि यहाँ पर वर्तमान संस्कृति के मानने वालों के आदिकाल का ज्ञान हो। हमारी बात वे मानते नहीं और उनके पास कोई प्रमाण है नहीं। तब किसकी बात मिथ्या है यह स्वयं सिद्ध है।

इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दुस्तान देश में जो हिमालय के दक्षिण और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्द महासागर के उत्तर में है, वह हमारे रहने का स्थान है। इस तथ्य को कोई भी देश अपने ढंग से कहने का प्रमाण नहीं दे सकता है। यदि कल्पना को ही मानना है तो हमारी कल्पना तो लिखित प्रमाण पर आधारित है।

जो बात हम कह रहे हैं कि जो मान्यतायें हम वर्णन कर रहे हैं उनके मानने वाले इस देश के निवासी हैं। वे आज भी बड़ी संख्या में यहाँ रहते हैं। उनका अस्तित्व है। उस अस्तित्व का चित्र ही हमने इस परिच्छेद में वर्णन किया है और यह कहा है कि उस अस्तित्व वालों को वर्तमान में हिन्दू कहते हैं। पहले यहाँ के निवासियों का नाम भारतीय था। उससे पहले उनको वेदानुयायी कहा जाता था। आर्य संस्कृति भी इसी का नाम था।

भारत की वर्तमान स्थिति में उस संस्कृति की रक्षा के सम्बन्ध में ही हम लिखने का यत्न कर रहे हैं। प्रश्न यही उत्पन्न हुआ था कि क्या वास्तव में इस संस्कृति को किसी प्रकार का भय है ? यदि भय है तो किससे है ? वह भय क्या है और फिर उसकी रक्षा का क्या उपाय है ?

हमने बताया है कि यह संस्कृति इस भारतवर्ष में बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है। हमारे पुराणों के आधार पर यह कम-से-कम बीस लाख वर्ष प्राचीन है। यह भी निर्विवाद है कि इससे प्राचीन कोई संस्कृति अथवा परम्परा इस संसार में अन्यत्र कहीं कोई विद्यमान नहीं है।

हमारे विचार से यह विचार और व्यवहार की परम्परा मानव-कल्याण की परम्परा है और इसकी रक्षा होनी ही चाहिए। इससे यह स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इसके लिए किसी प्रकार का भय है और यदि है तो कहाँ से ?

तृतीय परिच्छेद

: १ :

सार्वभौम मान्यतायें

समस्त संसार के सब समुदायों की मान्यता से हिन्दू मान्यतायें श्रेष्ठ हैं, ऐसा हमारा मत है। यह मत निराधार नहीं है। इसकी श्रेष्ठता के अकाट्य प्रमाण हैं और युक्तियाँ हैं।

प्रमाण तो स्पष्ट है। हमने सिद्ध किया है कि ये मान्यतायें भारत देश में लाखों वर्षों से प्रचलित हैं और आज भी भारत के निवासियों के बहुसंख्यक समुदाय में इनको स्वीकार किया जाता है। भारत में रहने वाले हिन्दू समाज की जनसंख्या लगभग साठ करोड़ है। भारत की पूर्ण जनसंख्या सत्तर करोड़ से कुछ कम है। इस प्रकार यहाँ के निवासियों में अस्सी प्रतिशत के लगभग निवासी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष रूप में स्वयं को हिन्दू कहते हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत बड़ी संख्या में ऐसे भी लोग हैं जो स्वयं को हिन्दू तो नहीं कहते परन्तु न्यूनाधिक हिन्दू समाज की मान्यताओं को अपने जीवन में स्वीकार करते हैं।

भारत देश के बाहर भी बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो हिन्दू मान्यताओं के आधार पर अपना जीवनयापन करते हैं। इतने बड़े जनसमूह में कुछ ऐसी हवा चल रही है कि भारतीय मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी उनको स्वयं को हिन्दू कहने में संकोच होने लगा है। कतिपय जन ऐसे भी हैं जो हिन्दू नाम का विरोध करते हैं, स्वयं को हिन्दू विरोधी मानते हैं किन्तु तदपि इन्हीं मान्यताओं पर आचरण करते हैं। बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की भी है जो हिन्दू समुदाय को गालियाँ देते हुए भी उनकी मान्यताओं में से अधिकांश पर अपना विश्वास व्यक्त करते हैं।

हमारे इस कथन पर अनेक ऐसे जन भी होंगे जो विस्मय व्यक्त करेंगे। परन्तु वस्तुस्थिति यही है। इस वस्तुस्थिति को समझने के लिए विश्लेषणात्मक बुद्धि से विचार करना पड़ेगा।

हिन्दू अथवा भारतीय प्राचीन समाज की मान्यताओं में हमने प्रथम बताई है परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करना। यदि उसी के विचार से विश्व के मानव समाज का विभाजन किया जाये तो विदित होगा कि कितने परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं और कितने नहीं करते। ईश्वरीय नियमों पर आचरण के सम्बन्ध में हमने समझाया है कि यह प्रत्येक के अपने सामर्थ्य और बुद्धि द्वारा विचारित ढंग पर निर्भर करता है। मनुष्य अपूर्ण प्राणी है। उसी का यह परिणाम है कि वह कभी भी कोई बुद्धियुक्त बात को एक समान विचार नहीं कर सकता। जो स्वयं को हिन्दू कहते हैं वे भी परमात्मा को अनेक प्रकार से और अनेक रूपों में मानते हैं। यही बात उनके विषय में भी सत्य है जो स्वयं को हिन्दू समाज से इतर मानते हैं। बहुत बड़ी संख्या में ऐसे भी हैं जो परमात्मा को तो मानते हैं परन्तु उनके परमात्मा का स्वरूप और कार्य-विधि न केवल हिन्दुओं से अपितु परस्पर भी भिन्न-भिन्न है।

हमारा यह विश्वास है कि यदि संसार के मानव समाज में इस आधार पर कि परमात्मा है अथवा नहीं और परमात्मा का नाम संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा में न लेकर परमात्मा के लक्षणों और कर्मों को कहकर जनगणना कराई जाये तो हमें विश्वास है कि ईमानदारी से मत देने पर अधिकांश जन परमात्मा के अस्तित्व के पक्ष में ही मतदान करेंगे।

परमात्मा का ऐसा कौन-सा लक्षण प्रस्तुत किया जाये कि जिसको समस्त संसार के प्राणी स्वीकार कर सकें तथा ईमानदारी से और पूर्वाग्रहों को त्यागकर उसे स्वीकार करें। वह है इस 'जगत् का स्रष्टा'। चलाने और प्रलय करने में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौम नियम है और वह नियम कोई चला रहा है। उसे नेचर कहा जाय, खुदा कहा जाय, गॉड कहा जाय, जहोवा कहा जाय अथवा किसी भी अन्य नाम से कहा जाये।

नाम का मोह छोड़कर यदि स्वीकार किया जाय तो ऐसी एक महान् शक्ति को स्वीकार करने वालों की संख्या बहुत ही अधिक होगी और यह मानने वालों की, कि इस संसार में कोई नियम नहीं है, कोई नियम लागू करने वाला नहीं, संख्या बहुत अल्प होगी।

जन सामान्य की बात छोड़कर हम विख्यात विद्वानों की ही बात करें तो वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी ईश्वर का नाम लेने पर लज्जा अनुभव करते हैं। किन्तु अपने को अनीश्वरवादी मानते हुए भी वे स्वीकार करते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ।। ब्र० सू० १-१-२ ।।

यह रचित जगत् बना है, चलता है और विनाश की ओर अग्रसर है।

इसका रचयिता कौन है, उसके नाम पर मतभेद है। परन्तु उसके अस्तित्व के विषय में मतभेद नहीं है। वैज्ञानिक इसे नेचर कहते हैं। वे नियम, जिनसे यह जगत् कार्य कर रहा है, उनको वे प्राकृतिक नियम कहते हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले को विनष्ट हो जाना स्वतः सिद्ध मानते हैं। ऐसा मानते हुए भी, एक सार्वभौमिक शक्ति को स्वीकार करते हुए भी ईश्वर को मानने वालों को अपशब्द कहने में उनको संकोच नहीं होता।

इसे मूर्खता, उद्दंडता अथवा बुद्धि की जड़ता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

अधिकांश वैज्ञानिक न्यूटन को अनीश्वरवादी कहते हैं। हम समझते हैं कि यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई वासुदेव कृष्ण को नास्तिक कहे।

जब कृष्ण ने अपने ही परिवार वालों की अपने चक्र से हत्या कर दी तो उसे क्या कहा जायेगा? वर्तमान काल की भाषा में उसे निपट नास्तिक माना जायगा। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत थी। नास्तिक तो वे थे जो वचन देकर कृष्ण की आँखों की ओट में होकर मद्यपान कर रहे थे।

इसी प्रकार जब न्यूटन ने कहा कि प्रकृति का कोई भी कण बिना किसी बाहरी शक्ति के स्थिर स्थिति से चलायमान नहीं हो सकता अथवा सीधी रेखा में चलता हुआ अपनी स्थिर गति बदल नहीं सकता तो उसने यही स्वीकार किया था कि प्रकृति के अतिरिक्त भी कोई ऐसी शक्ति है जो इतनी बड़ी है कि सूर्य और तारागण को बच्चों के कन्दुक की भाँति उछाल रहा है।

परन्तु आज के वैज्ञानिक तो यही कहते पाये जाते हैं कि न्यूटन ने परमात्मा को असिद्ध कर दिया था।

इसी प्रकार मुसलमान हैं जो हिन्दुओं और ईसाइयों को नास्तिक कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने को आस्तिक कहने वाले सभी समुदाय वर्तमान वैज्ञानिकों को नास्तिक कहते हैं। यह मूर्खता और ज्ञानहीनता के कारण है। वास्तविकता तो यही है कि प्रायः सभी ब्रह्मसूत्र के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं—

जन्माद्यस्य यतः।

अथवा

तत्तु समन्वयात्।

इसका अभिप्रायः यह है कि जगत् बना हुआ है। और इसके सब अंग परस्पर किसी से संघर्ष किये बिना लाखों वर्ष से चल रहे हैं। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह सब अपने आप ही हो रहा है ? प्रकृति में स्वतः तो गति उत्पन्न होती नहीं। कोई बाहरी शक्ति उसमें गति उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए। और फिर गति को नियम से चालू रखने वाला भी है।

अब जैन और बौद्धों की ही बात समझ लें तो हमारे कथन की पुष्टि हो जायेगी। दोनों समुदाय यह मानते हैं कि आचार-विचार शुद्ध होने चाहिए। तो क्या जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु आचरण की शुद्धि अकारण ही बताते हैं। अथवा क्या वे किसी सांसारिक सत्ता के भय से ऐसा आचरण करने का उपदेश करते हैं। मानें अथवा न मानें, वास्तविक बात यही है कि दोनों सम्प्रदायों में यह न कहते हुए भी स्वीकार किया जा रहा है कि आचरण में अशुद्धि आने से भयंकर परिणाम होंगे। वे स्वतः कष्ट में होंगे। यही प्रश्न है।

इससे हमारा यह मत है कि मनुष्य जैसे निर्मित है यह अस्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि उसके ऊपर कोई सत्ता है जो उसके आचारहीन होने पर उसको दण्ड देगी। वह किसको दण्ड देगी ? शून्य तो दण्ड भोगता नहीं। मरने के उपरान्त शरीर तो रहता ही नहीं। जब उसको जलाकर भस्म कर दिया जाता है तो फिर शुद्ध निरापद आचरण का क्या और किसको फल मिलेगा ?

इसी प्रकार अन्य हिन्दू मान्यताओं की बात है। उनको भी मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध इत्यादि प्रायः सब प्राचीन मतानुयायी हिन्दू नाम को अस्वीकार करते हैं। वे स्वयं को उनसे पृथक् और श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु मुख्य रूप में उनकी ही बात मानते हैं।

यह अकारण तो नहीं है। परन्तु इन्हीं कारणों से तो वे अपने को दूसरों से पृथक् मानते हैं।

हमारी मान्यता है कि हिन्दू मान्यतायें बुद्धिगम्य हैं। यही कारण है कि मानव समाज के सभी बुद्धिशील व्यक्ति उनको स्वीकार तो करते हैं किन्तु मानव स्वभाव की यह विशेषता है कि वह न केवल किसी अन्य मतावलम्बी में अपितु स्वयं अपने मत में भी त्रुटियाँ खोजता है किन्तु जब निन्दा अथवा बहिष्कार करना होता है तो सभी मतावलम्बी दूसरे के मत का विरोध या बहिष्कार करते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने मत का नहीं। तब वे अपने मत की सराहना ही करते हैं।

यह प्रवृत्ति यद्यपि शुभ नहीं है। इस प्रवृत्ति का कारण है मानव समाज में श्रद्धा को तर्क से अधिक श्रेष्ठ मानना। सुविज्ञ, सुपठित तथा ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता हजरत मोहम्मद की बातों को किसी अज्ञानी का कथन समझते हुए भी उसके अनुयायी कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। समस्त संसार में मुसलमान और ईसाइयों में संघर्ष चल रहा है। छल, बल तथा अन्यान्य विविध प्रकार के प्रलोभनों से दोनों समुदाय अपने विरोधी समुदाय को पराजित करने के लिए यत्नशील हैं। इन दोनों समुदायों में पढ़े-लिखे और वैज्ञानिक कहे जाने वाले जनों की संख्या कम नहीं है। पढ़े-लिखे होने पर भी इनका व्यवहार तथा इनकी मान्यतायें नितान्त अवैज्ञानिक हैं।

शनैः-शनैः यह प्रवृत्ति हिन्दू समाज में भी प्रविष्ट होकर उसको खोखला कर रही है। हिन्दुओं के सर्वमान्य धर्मशास्त्र, श्रीमद्भगवद्गीता में बुद्धि और स्थिर बुद्धि की महिमा का गान किया गया है। जो लोग नित्य गीता का पाठ करते हैं वे भी अब यह कहते सुने जाते हैं कि एक तोला-भर श्रद्धा के सम्मुख मन-भर तर्क भी तुच्छ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुपठित मुसलमान, ईसाई और श्रद्धा-विमूढ़ हिन्दू में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहा। यही हम इन पृष्ठों में सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं कि हिन्दू समाज की मान्यतायें तो ठीक हैं किन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति श्रद्धा के सम्मुख बुद्धि का मार्ग त्याग रहे हैं।

भारत की प्राचीन मान्यतायें सर्वमान्य तो हैं किन्तु अनेक मत-मतान्तरों के उनपर लेबल लगे होने के कारण वे अन्य मतावलम्बियों के प्रति द्वेष और तिरस्कार की भावना रखते हैं।

हमने हिन्दू मान्यताओं को आचरण से पृथक् करके बताया है। मान्यताओं में भी कुछ आचरण की बातें भी हैं। परन्तु वे सैद्धान्तिक होने से आचरण से सर्वथा पृथक् हैं।

उदाहरणार्थ हमने एक मान्यता का उल्लेख किया था—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो अपने लिए निषिद्ध है वह दूसरों के साथ भी न किया जाये। यह आचरण होते हुए भी किसी का विरोध नहीं करता।

और फिर धर्म के अन्य नियमों की भी बात है। वे सर्वमान्य हैं। इसी प्रकार :

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

इस प्रकार की आचरण की बातों से मत-मतान्तर का विरोध नहीं। बुरे कर्म वाले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबके लिए एक समान व्यवहार की बात कही गई है।

तदपि मत-मतान्तर विद्यमान हैं। न केवल इतना अपितु उन मत-मतान्तरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में परस्पर घोर संघर्ष चल रहा है। मुसलमानी देशों में परस्पर द्वेष और वैर-भाव सर्वविदित ही है। ईसाई देश भी किसी से कम नहीं हैं। वहाँ पर भी यह चिन्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है कि ईसाई देशों में गैर-ईसाई व्यक्ति बढ़ते जा रहे हैं। अब देश-देश में उनके आगमन को रोकने का यत्न किया जा रहा है, विधि-विधान में परिवर्तन किये जा रहे हैं।

विचारणीय यही है कि यदि मान्यतायें सर्वश्रेष्ठ हैं, सर्वमान्य हैं तो फिर विरोध किस बात का है? यह विरोध क्यों किया जा रहा है?

: २ :

परस्पर विरोध का कारण

मनुष्य शरीर में एक मन नाम का यन्त्र है। भगवद्गीता में भी मन को बहुत चंचल कहा गया है। मन पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ते रहते हैं। उनके कारण मन में चंचलता होने लगती है। अनेक प्रकार के प्रभाव अनेक मनुष्यों के मनों पर विभिन्न रूप में अंकित होते रहते हैं। उसके कारण मनुष्यों में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, अतः यह मन है जिसके कारण परस्पर विरोध की भावना पनपती है।

मन की उस चंचलता को शान्त करने का भी एक यन्त्र मनुष्य के शरीर में है। उस यन्त्र को बुद्धि कहा जाता है। जिसका मन बुद्धि के अधीन हो जाता है उसे मानव समाज में विभिन्नता एक वस्तुस्थिति दिखाई देने लगती है फिर उस विभिन्नता में किस प्रकार समन्वय हो, वह यह भी समझने लगता है।

ईश्वर की कृपा और हिन्दू समाज के उत्कट विद्वानों के उपदेशों से हिन्दू समाज में यह समन्वय प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यही हिन्दू समाज की उत्कृष्टता है। यह उत्कृष्टता भी हिन्दू समाज की मान्यताओं में से है जो अन्य मतावलम्बियों में दिखाई नहीं देती। इसे हम बुद्धिवाद कहते हैं।

हमने जिन मान्यताओं का उल्लेख किया है उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है कि जो किसी व्यक्ति विशेष के कथन से सम्बन्धित हो। जो कुछ भी उन मान्यताओं में है वह बुद्धियुक्त है, वह किसी के कहने पर अथवा श्रद्धा-भक्ति से नहीं है।

विगत एक सहस्र वर्ष के कतिपय सन्त, गुरुओं आदि की बात को छोड़ दीजिए। हिन्दू समाज में उससे पूर्व यह कभी मान्य नहीं था कि अमुक बात अमुक ग्रन्थ अथवा गुरु के मुख से कही जाने के कारण मान्य है। हिन्दू लोग भी ऋषियों और मुनियों की बातें तो करते रहे हैं किन्तु उनकी बात तर्क और युक्ति पर आधारित होती थी। यहाँ तक कि उपनिषदों का अध्यात्मवाद भी शुद्ध तर्क पर आधारित है।

बौद्ध और जैन मतों के प्रादुर्भाव के साथ प्रथा में अन्तर आया। तब हिन्दू समाज में श्रद्धा को तर्क पर वरीयता प्राप्त हुई। किन्तु उपनिषद् में जब कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानी अथवा ऋषि बात करता है तो वह तर्कयुक्त बात करता है। यह तो माना गया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। परन्तु यह कभी नहीं माना गया है कि वेद में तर्कहीन बात लिखी गई है। जैन और बौद्ध मतों के प्रादुर्भाव के उपरान्त वेद के जो भाष्यकार हुए हैं उनकी बात को छोड़कर पूर्व के आचार्यों में युक्तियुक्त बात ही दिखाई देती है।

यही कारण है कि हिन्दू समाज की प्राचीन मान्यतायें बुद्धियुक्त ही हैं। हमने भी जो सर्वमान्य मान्यताये वर्णन की हैं उनमें श्रद्धा से स्वीकार करने वाली कोई बात नहीं कही है। ये सब मान्यतायें बुद्धिगम्य ही हैं। न ही हमने यह कहा है कि अमुक ऋषि अथवा महात्मा या अवतार ने उनका बखान किया है, अतः वह मानने योग्य है।

हजरत ईसा तथा हजरत मोहम्मद के अनुयायियों में यह बात नहीं है। उनकी तो मान्यता है कि मजहब में अक्ल का कोई दखल नहीं है। जैसा-कैसा भी किसी ने कहीं कह दिया है उसको उसी रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। किन्तु हिन्दुओं में यह बात नहीं है।

यही कारण है कि जहाँ प्राचीन हिन्दू समाज में वाद-विवाद होते देखे गये हैं, वहाँ दूसरे मजहब वालों में इसका अभाव देखा गया है। वहाँ तो कुरान अथवा हजरत की बात ही सर्वमान्य है।

हिन्दू समाज की मान्यताओं की सर्वश्रेष्ठता इसीसे सिद्ध है। जहाँ-जहाँ और जब-जब अनेक मतों वाले भी बुद्धि का प्रयोग करते हैं वहाँ-वहाँ तक वे हिन्दू मान्यताओं को स्वीकार करते हैं।

उदाहरण के रूप में परमात्मा एक सर्वोपरि शक्ति है। वह जगत् का संचालन कर रही है। उसको स्वीकार करने की बात है; वह हिन्दू मान्यता ही है। परन्तु जहाँ परमात्मा को संसार का ज्ञान कराने के लिए उसके फरिश्ते जब्राहिल आदि घूमते रहते हैं, यह बात बुद्धिगम्य न होने से हिन्दुओं से भिन्न हो गई है। और फरिश्तों के दिखाई न देने पर भी श्रद्धा से मानने की बात ही हो जाती है।

हमारे कहने का अर्थ यह है कि जब-जब और जहाँ-जहाँ मानव समाज के व्यवहार में बुद्धि का प्रयोग किया जायेगा वहाँ परिणाम हिन्दू मान्यताओं के स्वीकार किए जाने का होगा।

अतः हमारा यह सुविचारित मत है कि हिन्दू मान्यतायें सर्वश्रेष्ठ हैं। तदपि हमारा कभी यह आग्रह नहीं रहा कि हिन्दू से इतर् व्यक्ति भी इसको मानें ही। वे मानें अथवा न मानें यह युक्ति और तर्क का विषय है। यह किसी राजदण्ड अथवा सामाजिक व्यवहार का विषय नहीं है।

इसी कारण कहावत बन गई है कि हिन्दू परिवार में दस प्राणी और ग्यारह चूल्हे तथा बीस देवता। इतना होने पर भी उस घर में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता।

बुद्धिगम्य मान्यताओं में एक विशेष गुण है। वह यह कि ज्यों ही बुद्धि के विकास से या कि ज्ञान में वृद्धि के कारण पूर्व में स्वीकार की गई बात अशुद्ध प्रतीत होती है तो उसको इस प्रकार छोड़ दिया जाता है जैसे पुराने वस्त्र उतारकर रख दिए जाते हैं। इससे समाज में विवाद नहीं फैलता। राज-पाट के लिए झगड़े होते देखे गये हैं, वे आज भी हो रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। किन्तु परमात्मा, उसके स्वरूप अथवा कर्म की श्रेष्ठता अथवा हीनता के विषय में झगड़े नहीं होते।

कबीर, नानक, दादू, राम, कृष्ण, विष्णु, शिव इत्यादि के मानने वाले परस्पर इस प्रकार नहीं झगड़ते जिस प्रकार मोहम्मद अथवा ईसा के मानने वाले परस्पर झगड़ते हैं अथवा तोरेत या अंजील के मानने वालों में झगड़ा होता है।

हिन्दुओं में सैकड़ों ही देवी-देवता हैं। वे सब पूज्य हैं। तदपि सब अपने-अपने इष्ट देवता की श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं। परन्तु इस कारण उनमें परस्पर कभी विवाद नहीं उठा जैसा कि शिया और सुन्नी में निरन्तर होता रहता है। अथवा जैसे कैथोलिक और प्रोटैस्टैंट में होता है। गौड और जहोवा के मानने वालों में भी विगत दो हजार वर्ष से झगड़ा होता आ रहा है।

भारत के हिन्दू समाज में भी मुसलमानों की एक कुरीति घर कर गई है। वह सिक्खों तथा निरंकारियों में है। वह सिक्खों और सहजधारियों अथवा अकालियों और नामधारियों में है। यह देन मुसलमानों की है। यह तबतक ही है जबतक एक तोला-भर भी श्रद्धा मन भर बुद्धि और युक्ति से अधिक समझी जाती रहेगी।

मुसलमानों के भारत में आने से पूर्व इस देश में बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के साम्राज्य स्थापित हुए थे। उससे पूर्व राज्य का न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध होता था और न राजा स्वयं किसी मत का सहायक ही होता था। वह अपने मत से भिन्न मत वालों पर अपने मत को राज्य बल से कभी नहीं थोपता था। यही कारण है कि जैन अथवा बौद्ध मत के प्रचार के पूर्व वाम मार्ग और द्वैत-अद्वैतवाद इत्यादि का पालन स्वतन्त्रता से होता रहा था। उनका प्रचार भी होता था। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी को भी अपने मत के प्रचार के लिए किसी भी राजा अथवा राज्य की ओर से किसी प्रकार की रोक नहीं लगाई गई। यह तो अशोक के अपने अति नृशंस जीवन के उपरान्त बौद्धमत को संरक्षक बनाने पर प्राचीन मत के प्रति भेद-भाव रखने का व्यवहार हुआ। तब यह हुआ कि मत-मतान्तरों में राज्य भी सहायक अथवा विरोधी होने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि परस्पर वैमनस्य फैलने लगा और बौद्ध राज्यों के ह्रास के उपरान्त जो हिन्दू मतानुयायी राजा आये उन्होंने भी हिन्दू मत-मतान्तरों का राज्य की ओर से समर्थन किया।

यह दूषित प्रथा न्यूनाधिक रूप में हर्षवर्धन के काल तक चलती रही। ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना जाता है कि सिन्ध पर मुसलमानी आक्रमण के समय सिन्ध के बौद्धों ने आक्रमण करने वालों की सहायता की थी।

इसके उपरान्त तो हिन्दू राज्यों का इस्लामी राज्यों के साथ संघर्ष उत्पन्न हो गया। तब तो इस्लाम के व्यवहार का विरोध हिन्दू समुदाय और हिन्दू राज्यों की ओर से होता रहा। यह इस्लामी राज्यों की मान्यता की प्रतिक्रिया थी। आज भी हिन्दू समाज में मुसलमानों के विषय में जो विरोध है वह उनके मतावलम्बी पाकिस्तानी व्यवहार के कारण है। पाकिस्तान में किसी गैर-मुसलमान को मुसलमान के बराबर नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं है।

हिन्दू राज्यों की पराजय हुई। राजनीतिक पराजय हुई किन्तु मत-मतान्तरों की पराजय नहीं हुई। यही कारण है कि सात सौ वर्ष के इस्लामी राज्यकाल में भी, छल, बल और प्रलोभनों का आश्रय प्राप्त होने पर भी, मुसलमानों की संख्या पाँच-छः प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाई थी।

जहाँ ईरान, सीरिया, मिस्र इत्यादि देशों में कुछ ही वर्षों में शत-प्रतिशत जन मुसलमान हो गये थे, वहाँ भारत में मुसलमानों के सात सौ वर्षों के राज्य पर भी पाँच प्रतिशत से अधिक जनता ने इस्लाम को ग्रहण नहीं किया था। यह मुसलमानी राज्य की निष्पक्षता के कारण नहीं, अपितु यह हिन्दू जीवन-मीमांसा की श्रेष्ठता के कारण था।

इस्लाम का प्रचार ब्रिटिश राज्यों में अधिक तीव्र हुआ। इसका कारण भी इस्लाम की श्रेष्ठता नहीं थी। इसका कारण था अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से जन सामान्य का अहिन्दूकरण। उसके उपरान्त इस्लाम और ईसाइयत द्रुत गति से उन्नति करने लगे।

अंग्रेजी शिक्षा का एक प्रभाव यह भी हुआ कि हिन्दू समाज में सन्तान के लिए अरुचि उत्पन्न होने से औसत हिन्दू घटकों की संख्या कम होने लगी। इस कारण भी हिन्दू-मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात कम होने लगा।

सन् १९८१ की जनगणना में हिन्दू-मुसलमानों की जनसंख्या का अनुपात अभी घोषित नहीं किया गया है। यद्यपि यह प्रकट किया जा चुका है कि जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई हैं किन्तु, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि-आदि किस-किस मत के कितने-कितने जन हैं इसकी स्पष्ट संख्या अभी घोषित नहीं की गई है।

एक कारण यह भी है कि विगत दस वर्षों में हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर दंगों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। किन्तु उन दंगों का ठीक-ठीक विवरण जनसामान्य को नहीं बताया जाता। इसे शासकीय दृष्टि से उचित भले ही कहा जाये किन्तु इस लुकाव-छिपाव से किसी प्रकार भी किसी का लाभ होगा, यह हम नहीं मानते। जब भारत के पड़ोस में एक ऐसा राज्य है जो इस्लामी राज्य कहा जाता है और जिसमें मुसलमान को प्रथम श्रेणी का नागरिक घोषित किया गया है, उसके रहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भारत में इस्लाम की प्रगति पर दृष्टि रखना अनिवार्य प्रतीत होता है। और जो भी दंगे यहाँ पर इस्लाम और हिन्दू की मान्यता के आधार पर होते हैं वे तो विचारणीय हैं ही। अतः हमारा यह सुविचारित मत है कि इस परिपेक्ष्य में जन-गणना के आँकड़े छिपाना अथवा दंगे के कारण को छिपाना किसी प्रकार भी उप-युक्त नहीं है।

हम भारत की परम्परा के अनुरूप यह तो नहीं चाहते कि राज्य किसी मत-मतान्तर, यहाँ तक कि हिन्दू समुदाय की भी, विशेष सहायता करे। परन्तु हम यह भी नहीं चाहते कि हिन्दू समुदाय की उन्नति अथवा अवनति के आँकड़े हमें पता न चलें।

सबसे बड़ी बात यह है कि हम हिन्दू सरकार से हिन्दू के नाम पर हिन्दुओं के लिए किसी प्रकार की विशेष सुविधा नहीं चाहते। परन्तु यह भी नहीं चाहते कि राज्य निष्पक्षता की ओट में किसी भी समुदाय की सहायता करे।

भारत में मुसलमानों की विशेष स्थिति है। यह विशेष स्थिति ईसाइयों की भी नहीं है। कोई भी ईसाई राज्य भारत के ईसाइयों की सहायता की बात नहीं करता। पोप की राज्य की बात इसके अन्तर्गत नहीं आती।

पोप केवल धर्म गुरु ही नहीं अपितु वह एक राज्य का शासक भी है। इस कारण उसकी स्थिति भी इस्लामी राज्यों की-सी हो जाती है।

हम भारत के राज्य से भारत की प्राचीन परम्पराओं की रक्षा नहीं चाहते। हम तो भारतीय राज्य के इसके विरोध की सहायता पर आपत्ति कर रहे हैं। हमारे इस कथन पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वर्तमान भारत की राज्य सरकार भारत की प्राचीन परम्पराओं अथवा मान्यताओं का विरोध कर रही है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा यही कहना है कि प्राचीन मान्यता के विरोधियों की विशेष सहायता उन मान्यताओं का विरोध ही माना जायेगा।

साथ ही उन प्राचीन मान्यताओं के विरोधियों को निष्पक्षता के छाजन के नीचे बचाकर रखना भी हमें विरोध ही दिखाई देता है। यदि कहीं हिन्दू मान्यताओं वाले जान-बूझकर अथवा भूल से भी किसी दूसरे मत-मतान्तर का बदला अथवा प्रलोभन से विरोध करते हैं तो हम उस विषय में भी लुकाव-छिपाव की आवश्यकता नहीं मानते।

अतः हमारी यह धारणा है कि हिन्दू मान्यतायें संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं। और यदि उनकी श्रेष्ठता का आश्रय लेकर किसी दूसरे से उपमा दी जाती है तो हम उसे भी मान्यताओं का विरोध ही मानते हैं और उस उपमा की रक्षा अथवा उस पर पर्दा डालने का विरोध कर रहे हैं।

जो अपनी त्रुटियों को नहीं जानना चाहता है उसे ह्रासोन्मुख समझना चाहिए। ऐसे लोगों की रक्षा करना हम भारतीय अथवा हिन्दू मान्यताओं का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध ही समझते हैं।

हमने बताया है कि हिन्दू मान्यतायें सार्वभौमिक हैं। इससे हमारा यह अभिप्राय है कि इनका भूमण्डल के किसी देश से सम्बन्ध नहीं है। ये भौगोलिक स्थिति से अप्रभावित ही रहती हैं। इनका सम्बन्ध बुद्धि और जीवात्मा से है।

तदपि ये भारतीय हिन्दू समाज से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपेण स्वीकार की जाती हैं।

इसमें हमें अपनी अर्थात् हिन्दू की महानता ही दिखाई देती है। एक महान् हिन्दू नेता ने हिन्दू की परिभाषा यह की है कि जो भारत भूमि को अपनी जन्म और पुण्यभूमि मानता है। इस परिभाषा को हम पूर्ण नहीं समझते। इसमें कमी है। हम अपनी ही परिभाषा को अधिक उपयुक्त समझते हैं। हिन्दू समाज अपनी मान्यताओं से सम्बद्ध है न कि भूमि से। हमारी दृष्टि में मान्यतायें अधिक पवित्र और हृदयस्पर्शी हैं। निवास-स्थान आवश्यक होते हुए भी गौण ही है।

इस कारण हम कही जाने वाली मान्यताओं को बुद्धिगम्य एवं श्रेष्ठता के आधार पर स्थापित करना चाहते हैं न कि इस आधार पर कि वह ऋषि-मुनियों द्वारा वर्णित है अथवा इस कारण कि वह किसी पुस्तक में लिखित है।

इस युक्ति में हम अपने विचार हिन्दुओं की मान्य पुस्तक वेद के विषय में कह देना चाहते हैं।

वेद में कही गई बात की सत्यता पर हम केवल विश्वास ही नहीं करते अपितु इसमें प्रमाण भी देखते हैं। वेद की व्याख्या करने वाले एक व्यक्ति ने कहा है—

"वेदार्थ समझने में तर्क और युक्ति हमारी सहायता करता है।"

वेदार्थ समझने की एक विधा है, इसे निरुक्त कहते हैं। सब निरुक्ताचार्य यही मानते हैं।

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को नः ऋषिर्भविष्यतीति,
तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छत।। यास्क १३-१२।।

इसका अभिप्राय है—ऋषियों के स्वर्गवासी हो जाने पर मनुष्य विद्वानों से पूछने लगे कि अब हमारा मन्त्रार्थ समझने वाला ऋषि कौन होगा? वह तर्क बुद्धि द्वारा (विचार किया) अर्थ होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद भी बुद्धि और तर्क का विषय है। हिन्दुओं की सर्वमान्य पुस्तक भी बुद्धि का विषय है, केवल श्रद्धा का नहीं।

इसीलिए हिन्दुओं की मान्यता की गणना में हमने वेद का उल्लेख नहीं किया। हमने तो परमात्मा, आत्मा, कर्मफल इत्यादि को मान्यताएँ माना है। क्योंकि इन मान्यताओं का उल्लेख वेद में है और ये स्वतः बुद्धि से सिद्ध हैं। इस कारण वेद मन्त्र तर्कसिद्ध हैं।

यही कारण है कि कबीर और तुलसी यही कहते हुए वेदानुयायी माने गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि ये लोग वेद के किसी एक मन्त्र को भी ठीक से समझते थे अथवा कि नहीं, इसमें सन्देह है।

हिन्दू मान्यता सार्वभौमिक है। यह इस कारण कि वह बुद्धिगम्य है। यदि बुद्धिविहीन लोग इनको केवल श्रद्धावश मानते हैं, जो तर्कसिद्ध भी हैं, तो मान्यताओं की सार्वभौमिकता में अन्तर नहीं आता। अपितु इसे तो न मानने वालों का दोष माना जायेगा।

: ३ :

परमात्मा की सिद्धि को हम न्यूटन, जिसे नास्तिक माना जाता था, उसके सिद्धान्त से प्रमाणित कर चुके हैं।

अब आत्मा की वात भी समझ लें। मनुष्य में एक आत्मा है। यह उस आत्मा से पृथक् है जो सर्वत्र उपस्थित है।

एक हिन्दू शास्त्र है, उसका नाम है ब्रह्मसूत्र। उसमें जीवात्मा और कर्मफल की बात एक तर्क से सिद्ध की गई है। उसमें कहा गया है—

१. यह रचित जगत् देखने से ज्ञात होता है।

२. यह ज्ञात होता है कि कार्य जगत् में दो प्रकार के कर्म हो रहे हैं।

३. कर्म का ज्ञान गति से होता है। गति दो प्रकार की देखी जाती है।

४. एक जो प्राणी के अधीन है और दूसरी जो प्राणी के अधीन नहीं है।

५. प्राणी के वाहर की वात छोड़ दें और प्राणी (मनुष्य) को ही देखें तो उसमें दो प्रकार की गतियाँ दिखाई देती हैं। एक जो मनुष्य के अधीन है और दूसरी जो मनुष्य के अधीन नहीं है।

हाथ, पाँव, वाणी इत्यादि मनुष्य के अधीन हैं। मनुष्य यदि चाहे तो हाथ से काम करे अथवा न करे। परन्तु मनुष्य में हृदय धक्-धक् करता है। यह धक्-धक् की गति प्राणी के अधीन नहीं है। इसी प्रकार गले से लेकर गुदा तक भोजन का संचारण मनुष्य के अधीन नहीं है। वह चाहे अथवा न चाहे, भोजन चलता ही है। इसी प्रकार सांस का चलना भी फेफड़ों के फूलने और सिकुड़ने से होता है। परन्तु यह क्रिया मनुष्य के अधीन नहीं है।

इस प्रकार मनुष्य में पाँच प्रकार की गतियाँ हैं, जो मनुष्य के अधीन नहीं हैं। तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह गतियाँ कौन कर रहा है?

अतः ब्रह्मसूत्र में कहा है यह स्पष्ट है कि मनुष्य शरीर में दो प्रकार के आत्म-तत्त्व हैं। एक जो पूर्ण जगत् का व्यापार करता है और दूसरा जो पृथक्-पृथक् शरीर में काम करता है। इसको जीवात्मा का नाम दिया गया है।

वह आत्म तत्त्व जो मनुष्य मनुष्य में पृथक्-पृथक् कार्य कर रहा है वह अपने किये कर्मों का फल प्राप्त करता है। प्राणी-प्राणी में आत्म तत्त्व पृथक्-पृथक् है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः कर्म पृथक्-पृथक् होते हैं। और कम का फल भी पृथक्-पृथक् होता है।

इस प्रकार तर्क से जीवात्मा की सिद्धि होती है और उसके स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म की भी सिद्धि होती है।

पृथक्-पृथक् फल भी हम देखते हैं। यह कहावत दृष्टिगत होती है—

मूरख-मूरख राज करत हैं, पण्डित फिरत भिखारी।
करमन की गति न्यारी॥

यह कर्म की गति के कारण ही है। इसी प्रकार अन्य मान्यताओं के विषय में भी यह देखा जाता है कि वे भी तर्कसिद्ध हैं।

कुछ एक मान्यतायें मानव-कर्म से सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरण के रूप में निम्न मान्यता है—**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**

यह भी है तो मनुष्य-मनुष्य के पृथक्-पृथक् करने की ही बात, परन्तु इसमें बुद्धि का आधार यह है कि यदि किसी समाज में इस आधार पर रहना स्वीकार किया जाये तो समाज में शान्ति और न्याय का चलन होने लगेगा।

इस प्रकार मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण यदि इस सिद्धान्त पर आचरण करने लगे जो इस मान्यता में कहा है—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।

तो समाज में सामाजिकता को शान्ति की दिशा मिलेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि समाज में शान्तिपूर्वक रहने की बुद्धिगम्य योजना का यह अंग है।

तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन मान्यताओं पर आचरण की व्यवस्था किस प्रकार की जाय? यही तो इस पुस्तक का विषय है।

ये मान्यतायें हैं हिन्दू समाज का स्वत्व। अर्थात् हिन्दू समाज की आत्मा के लक्षण। और हम लिख रहे हैं कि इस स्वत्व वाले, इस श्रेष्ठ गुण वाले समाज की रक्षा किस प्रकार हो? तब यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि क्या इससे पूर्व इसकी रक्षा नहीं हो रही है? कौन बाधक है? और वह किस प्रकार बाधक है?

जबतक इसका ज्ञान न हो जाये तबतक उस बाधा को दूर करने के उपाय पर विचार नहीं किया जा सकता।

अतः मान्यताओं के विषय में समझने के उपरान्त यह जानना है कि—

१. इन मान्यताओं को किस दिशा से भय है?
२. क्या भय है?
३. किसकी ओर से भय है?
४. इस भय का निवारण किस प्रकार किया जाय?
५. इस भय के निवारण से किसको लाभ होगा?

इन प्रश्नों का उत्तर ही इस पुस्तक के अगले खण्ड में देने का यत्न किया जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय खण्ड

प्रथम परिच्छेद

: १ :

शिक्षा की स्वतन्त्रता

मनुष्य शरीर में एक अंग है मन। यह स्मृति यन्त्र होने के साथ-साथ कल्पना और मनन का भी स्थान है। ये कल्पना और मनन मन की स्मरण शक्ति के ही कारण हैं। सांख्य दर्शन में कहा है कि यह 'महत्' का प्रथम कार्य है। अभिप्राय यह कि यह महत् तत्त्व की प्रथम उपज है। महत् प्रकृति का वह रूप है जब इसके परमाणु जागृत अवस्था में हो जाते हैं।

प्रलय काल में प्रकृति के परमाणु एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् और परस्पर प्रभावरहित होते हैं।

यह माना जाता है कि प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन प्रकार की शक्तियों की संतुलित इकाई होती है। परमाणु के जागृत होने का अर्थ है तीनों शक्तियाँ परस्पर सन्तुलित न रहकर बहिर्मुख हो जाती हैं। यह महत् का स्वरूप है। असंख्य परमाणु हैं और प्रत्येक अपनी शक्ति का मुख बाहर को कर अन्य परमाणुओं को प्रभावित करने लगता है। तब परमाणु संयुक्त होने लगते हैं और एक से अधिक के योग बन जाते हैं। इन संयोगों में एक मन रूप परमाणुओं का संयोग बन जाता है। और जब प्राणी का शरीर बनता है तो एक ऐसा संयोग प्रत्येक प्राणी को मिल जाता है। यह मन होता है। इसपर आवेश होता है और उस आवेश के कारण उसमें मन के प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनमें स्मरण, मनन, संकल्प, विकल्प का सामर्थ्य आ जाता है।

इस प्रकार के कर्मों की सामर्थ्य के कारण ही मन में चंचलता अनुभव होती है।

आत्मा को इस प्रकार का योग्य कार्यकर्ता मिलने पर यह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए इसके द्वारा संकल्प-विकल्प करने लगता है।

मन पर नियन्त्रण रखने वाला भी एक यन्त्र मनुष्य को मिला होता है। उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि मन के संकल्प-विकल्पों को नियन्त्रण में रखने का कार्य करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन जीवात्मा की इच्छाओं की पूर्ति के लिए कल्पनायें अर्थात् योजनायें बनाता है और बुद्धि उन योजनाओं को धर्म-अधर्म की दृष्टि में जाँच-पड़ताल करती है। और वह जीवात्मा को सम्मति देती है कि मन की अमुक कल्पना धर्मानुकूल है और अमुक कल्पना अधर्मयुक्त है।

कभी तो जीवात्मा मान जाता है। कभी वह मन के संकल्प-विकल्प को अमान्य भी कर देता है। कभी जीवात्मा की इच्छा अर्थात् कामना इतनी प्रबल होती है कि वह बुद्धि की सम्मति को अस्वीकार कर मन के संकल्प के पीछे चल पड़ता है। शरीर की इन्द्रियों को आज्ञा हो जाती है कि मन की सम्मति पर कार्य करें।

समाज व्यक्तियों के समूह को कहते हैं। जब यह समूह मिल-जुलकर कार्य करने लगे तो ऐसे अवसर भी आते हैं जब अज्ञानता के विस्तार से समाज में अधिकांश लोग मन के संकल्पों के पीछे भाग खड़े होते हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। वर्तमान युग में मदिरा का प्रयोग बढ़ रहा है। यद्यपि बहुत ही प्राचीन काल से इसका प्रयोग प्रचलित रहा है। परन्तु इसकी मात्रा बहुत न्यून थी। अधिक प्राचीन काल की बात हम नहीं करते। आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व की ही बात है। हम एक मौहल्ले में रहते थे। उस मौहल्ले में लगभग दो सौ परिवार रहते थे। उन दो सौ परिवारों में प्रत्यक्ष रूप में एक परिवार का एक ही घटक ऐसा दिखाई दिया था जो मद्यपान करता था। वह कभी-कभी पीकर झूमता हुआ मौहल्ले में लड़ाई-झगड़ा करता भी देखा जाता था। नगर भर में एक-दो दुकानें ही होती थीं जहाँ वह बोतलों में बिका करती थी। खुली बिक्री वाली शराब की दुकान की ओर लोग जाना भी पसन्द नहीं करते थे।

उस समय फ्रांस की प्रसिद्ध शैम्पेन की बोतल ५-६ रुपयों में मिल जाया करती थी। तदपि मद्यपान करने वालों की संख्या नगण्य ही हुआ करती थी।

धीरे-धीरे समाज के घटकों में बुद्धि का नियन्त्रण ढीला होने से अब नगर के किसी भी मौहल्ले में शराब की दुकान एक अनिवार्यता हो गई है। राज्य ने शराब पर टैक्स बढ़ा दिया है। प्रत्येक दुकान प्रति वर्ष लाखों रुपया टैक्स देती है। इस पर भी शराब का दुकानदार दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रहा है। अर्थात् उसका धन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है।

भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है जोकि शराब की बिक्री से होने वाली आय को छोड़ने की बात सोचता हो। स्वराज्य मिलने पर तो शराब का प्रचार कम हुआ था परन्तु कुछ कालोपरान्त पीने वाले और उत्पादकों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणाम हुआ कि अब करोड़ों रुपयों की शराब बिकने लगी है। सरकारी टैक्स के आधिक्य के कारण अनियमित शराब का उत्पादन भी होता है और वह भी खूब बिकती है। उसको पीने से प्रति वर्ष सैकड़ों लोग मृत्यु का ग्रास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी बनते हैं। यह सब होने पर भी शराब का प्रचलन दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

यदि इसका विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि इसके पान से पीने वाले को क्षणिक आनन्द की उपलब्धि होती है। किन्तु उस आनन्द से जीवन का ह्रास भी होता है। मद्यपान करने वाले की बुद्धि न केवल क्षीण होने लगती है अपितु वह मलिन भी हो जाती है। परन्तु उस आनन्द के मोह में पीने वाला मन, बुद्धि और आयु का ह्रास सहर्ष स्वीकार कर पान करता जाता है। इस प्रकार दिनानुदिन इसका प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है।

विद्वानों का कथन है कि मद्यपान करने से बुद्धि, आयु और बल का ह्रास होता है। परन्तु राज्याधिकारी कहते हैं कि इससे करोड़ों रुपयों का राजस्व प्राप्त होता है। अब कुछ ऐसे भी लोग सम्मुख आने लगे हैं जो मद्यपान को व्यक्तिगत प्रश्न कहकर उसकी स्वतन्त्रता के नाम पर छूट चाहने लगे हैं। ये सब आनन्द-प्राप्ति के बहाने मात्र हैं। कतिपय मद्यपान करने वालों की इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि वे बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना कर जाते हैं। मन की कल्पना, जो जीवात्मा की सुख की इच्छा के समर्थन में प्रस्तुत होती है, को जीवात्मा की स्वीकृति मिल जाती है और पूर्ण समाज विकृत होकर विनाश की ओर उन्मुख हो रहा है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व देश का प्रशासन सिनेमा इत्यादि में अश्लीलता पर प्रतिबन्ध लगाने के विषय पर कानून बनाने का विचार करने लगा था। इस विषय पर दिल्ली में देश के लेखकों की एक बैठक बुलाई गई। उसमें हमें भी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारे अतिरिक्त उन उपस्थित लेखकों में से कोई एक भी ऐसा नहीं था जो इस प्रकार के किसी कानून के पक्ष में हो। अत्यधिक विवाद के उपरान्त यह प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ कि लेखकों, सिनेमा निर्देशकों तथा प्रकाशकों के प्रतिनिधियों का एक बोर्ड बनाया जाय जो सरकार को इस विषय पर परामर्श दे कि अमुक पुस्तक, लेख अथवा कहानी अश्लील है। उस अवसर पर हमने सुझाव दिया था कि उस बोर्ड में नियुक्त किये जाने वाले सदस्यों की योग्यता का भी कोई मापदण्ड निर्धारित किया जाना चाहिए। उस मापदण्ड में सदस्य का सन्तानयुक्त होना, उसका भारतीय आचार-संहिता का ज्ञाता होना आदि बातें अनिवार्य मानी जायें। हमने अनुभव किया कि मन-ही-मन इस सुझाव की अवहेलना की जा रही है और उसका परिणाम यह हुआ कि सदस्य की योग्यता का कोई मापदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सका।

वस्तुस्थिति यह है कि किसी व्यवहार विशेष से सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति होती है। जीवात्मा सुख की प्राप्ति की प्रबल कामना करता है। वह बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना करके मन को आज्ञा दे देता है कि अमुक बात लिखो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमुक प्रकार का अभिनय करो, अमुक नृत्य मुद्रा का प्रदर्शन करो।

जब बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना की जाती है तो मन की चंचलता को उच्छृंखलता करने का अवसर सुलभ हो जाता है।

अत: जातीय उत्थान के लिए हमारी दृष्टि में प्रथम पग है बुद्धि को इतना बलवान बनाया जाय कि वह आत्मा की कामनाओं को उचित दिशा देने में समर्थ हो। इसके साथ ही आत्मा के स्वभाव को बदला जाय जिससे वह इच्छाओं और कामनाओं में बह न सके।

यह शिक्षा का विषय है। पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

दो शब्द शिक्षा के सम्बन्ध में भी कह देना हम उपयुक्त समझते हैं। शिक्षा वास्तव में जीवात्मा का स्वभाव बनाने, मन को शिव संकल्प करने, और बुद्धि को सुदृढ़ करने का नाम है। इनके साथ इन्द्रियों को मन और बुद्धि के अधीन कार्य करने का अभ्यास कराने का नाम है। भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित इत्यादि विषय उक्त अवयवों को सन्मार्ग पर चलाने में सहायता देने के लिए होते हैं। स्वत: ये शिक्षा में किसी प्रकार का योगदान नहीं करते।

ज्ञान-विज्ञान मन, बुद्धि और जीवात्मा को ठीक मार्ग पर ले जाने में सहायक तो हो सकता है। परन्तु यथार्थ ज्ञान और विज्ञान से तकनीकी शिक्षा ज्ञान-विज्ञान नहीं कहाती। तकनीकी शिक्षा वास्तव में ज्ञान से पेशा कराना है; जैसे किसी स्त्री से वेश्यावृत्ति कराना।

स्त्री कर्म उचित उद्देश्य से भी होता है परन्तु यही कर्म वेश्यावृत्ति भी हो सकता है, जब इसके वास्तविक प्रयोग को छोड़कर इसे धनोपार्जन का साधन बना लिया जाय।

यही बात ज्ञान-विज्ञान में तकनीकी ज्ञान की है। ज्ञान-विज्ञान का धर्मयुक्त प्रयोग भी है। परन्तु जब वासना-तृप्ति के लिए इस ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति का प्रयोग किया जाये तो यह वेश्यावृत्ति के समान हो जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि तकनीकी उन्नति जीवन को सुखमय बनाने के लिए वेश्यावृत्ति है। परन्तु यदि जीवन के धर्मयुक्त कार्यों में सहायता के लिए इसका प्रयोग किया जाय तो यह सती साध्वी महिला के व्यवहार के समान हो जायगा।

जब हम शिक्षा में ज्ञान-विज्ञान के योगदान की बात करते हैं तो उससे हमारा यही अभिप्राय होता है कि प्राणियों, वस्तुओं और प्राकृतिक शक्तियों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाय और उस ज्ञान का उपयोग जीवन की आवश्यकताओं को व्यवहार में लाने के लिए हो।

यह किस प्रकार सम्भव होगा ? इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ तो हम यह बता रहे हैं कि मन शिव संकल्प करने वाला हो; बुद्धि को प्रबल युक्ति करने के योग्य बनाने से और जीवात्मा का विवेकपूर्ण स्वभाव बनाने से मन की चंचलता को स्थिर बनाया जा सकता है। साहित्य, कला और व्यवहार सब शिक्षा के अनुरूप होनी चाहिए। यह प्रथम जातीय कार्य है जिससे स्व अस्तित्व की रक्षा हो सकती है।

यह कौन करे, कहाँ करे और किस प्रकार करे ? इसके लिए सर्वप्रथम कार्य है शिक्षक को तैयार करना।

इसी में मन्दिरों, सभा स्थानों, कथा-कीर्तनों, धर्म-उपदेशों, तीर्थाटनों और ऐतिहासिक स्थानों के दर्शन तथा जातीय महापुरुषों के जीवन चरित्रों तथा उनके मतों के मानने अथवा न मानने का उपयोग है।

हिन्दू समाज को उसकी वर्तमान पतितावस्था से निकालने के लिए प्रथम कर्म है इसके धार्मिक स्थानों, धार्मिक पर्वों, जातीय महापुरुषों की कृतियों और लेखों तथा उनके जीवन से सम्बन्धित स्थानों का पुनरुद्धार करना।

देश की वर्तमान अवस्था ऐसी हो गई है कि हम कोई भी व्यक्तिगत अथवा जातीय कार्य बिना राज्य की स्वीकृति के कर ही नहीं सकते। यही कारण है कि विराट् हिन्दू सम्मेलन के अध्यक्ष को भारत सरकार के सम्मुख यह याचना करनी पड़ रही है कि हिन्दुओं के जातीय एवं धार्मिक पर्वों के सरकारी अवकाश के दिनों में वृद्धि की जाय। किन्तु सरकार सैक्युलर होने के साथ-साथ दुकानदार, ठेकेदार और व्यापार वृत्ति वाली भी है। जब वह वर्ष में अवकाश के दिन न्यूनाधिक करती है तो, जब हिन्दुओं को जन्माष्टमी का अवकाश दिया जाता है तो उसकी ही भाँति मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों, बौद्धों, जैनों आदि-आदि के किस पर्व पर अवकाश में वृद्धि की जा सकती है।

सरकार तो अपने कर्मचारियों के एक-एक घंटे के अवकाश के विषय में भी विचार करती है कि इससे कितनी आर्थिक हानि होने की सम्भावना है। सरकार यह भी अनुभव करती है कि जातीय जीवन में एक भी अवकाश का दिन बढ़ाने पर राष्ट्रीय आय में कितनी कमी होगी अथवा सरकार इस बात का विचार करने और निर्णय लेने में एक सौ एक बाधायें देखती है। कारण स्पष्ट है कि सरकार एक दुकानदार, भिन्न-भिन्न समाजों की पत्नी, और सबसे बड़ी बात यह है कि पत्नी बने रहने की लालसा में जोड़-तोड़ लगाने वाली चतुर नारी का रूप ग्रहण कर चुकी है। वस्तुतः प्रजातान्त्रिक सरकार तो वेश्या के समान ही होती है। ऐसी प्रजातान्त्रिक सरकार पर उस पति का आतंक होता है जो सर्वाधिक आक्रान्त और उत्पात मचाने की क्षमता रखता है। यह वर्तमान प्रजातान्त्रिक पद्धति का स्वरूप है।

वास्तव में यह होना चाहिए कि जातीय निर्माण-कार्यों को इस प्रजातान्त्रिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैक्युलर और दुकानदार सरकार से स्वतन्त्र किया जाये।

अमुक जातीय पर्व के दिन सरकारी कार्य चलेगा अथवा नहीं, इसका निर्णय यह वेश्या सरकार नहीं कर सकती। इसका निर्णय करने का अधिकार जातीय धार्मिक एवं बौद्धिक नेताओं को दिया जाना चाहिए। उनके निर्णय से सरकार को यदि किसी प्रकार की असुविधा हो तो सरकार को चाहिए कि वह उन नेताओं से सम्पर्क स्थापित कर अपनी असुविधा बखान करे और उसे दूर करने का निवेदन करे न कि विराट् हिन्दू समाज के नेता सरकार से आग्रह करें।

जातीय निर्माण-कार्य राजनीतिक कार्य नहीं है। हम जाति के हिताहित को सैक्युलर, व्यापारी, दुकानदार, कारखानेदार अथवा मूर्खों, अनपढ़ों के मतों की भिक्षा माँगने वालों के हाथों में सौंपना उचित नहीं समझते।

जातीय निर्माण के कार्यों में हमने अभी तक मन, बुद्धि और जीवात्मा के सुशिक्षित कर्मों का ही कथन किया है। उनको ठीक दिशा देने के लिए हम ऐसी सामाजिक संस्था का हस्तक्षेप चाहते हैं जो स्वयं धर्मनिरपेक्ष, सबसे बड़ी सेवकों की स्वामी, सबसे अधिक धनोपार्जन का संयन्त्र और अनपढ़, सामान्य बुद्धि, आचार-विचार के लोगों के मत से प्रभावित न हो।

इसका अर्थ यह है कि शिक्षा, धर्मस्थान, तीर्थस्थान, समाजों और जातीय धार्मिक पर्वों का प्रबन्ध विद्वानों के अधीन होना चाहिए। हम इनका प्रबन्ध गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की भाँति नहीं चाहते। यह सम्भव भी नहीं है। उसका कारण यह है कि हम हिन्दू समाज को जागृत करने का उपाय बता रहे हैं। हिन्दू समाज में किसी एक सम्प्रदाय के लिए यह प्रयास नहीं कर रहे हैं। हिन्दू सम्प्रदाय में अनेक मत-मतान्तर हैं।

जो आवश्यक है वह यह है कि हिन्दू समाज की साँझी मान्यताओं का विरोध कहीं न हो। उसके समर्थन के साथ अपने-अपने इष्टदेव तथा सम्प्रदाय की बात भी होती रहे। हिन्दुओं के सब सम्प्रदाय वेद मूलक हैं। इस कारण उनका विरोध नहीं हो सकता।

हमारा निश्चित मत है कि मन, बुद्धि और आत्मा सम्बन्धी शिक्षा पूर्णरूप से देश के राज्य से असम्बद्ध होनी चाहिए।

: २ :

ज्ञानार्जन

राज्य की सहायता और सहयोग से पृथक् जो दूसरी बात हम हिन्दू समाज के लिए करणीय मानते हैं वह है व्यक्ति में ज्ञानार्जन करने की प्रवृत्ति। हम व्यक्तियों, विशेषतया जाति के विद्वानों को राज्य का कर्मचारी बनना उचित नहीं समझते। शास्त्र का यह विधान है कि जब कोई ब्राह्मण किसी राज्य का वेतनभोगी कर्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारी बन जाता है तो वह शूद्र पद को प्राप्त हो जाता है। इसका अभिप्राय: यह है कि उस विद्वान् की विद्या लोप हो जाती है।

कोई विरला ही अपनी विद्वत्ता को रखता हुआ वेतनभोगी हो सकता है। उसका किसी समय भी राज्याधिकारियों से विरोध हो जाना असम्भव नहीं है। इसी कारण न्यायाधीशों को वेतन और सेवा से मुक्त करने का अधिकार राज्य को नहीं दिया गया। किन्तु इतने-भर से हम सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारी मान्यता तो यह है कि देश की न्यायपीठ राज्य प्रशासन से सर्वथा स्वतन्त्र होनी चाहिए। न्यायाधीशों का चयन, उनकी नियुक्ति-विमुक्ति और उनका वेतन आदि राज्यतन्त्र से सर्वथा स्वतन्त्र हों। देश और जाति में न्यायाधीशों का इतना सम्मान होना चाहिए कि कोई भी शासक उनको प्रभावित करने का दुस्साहस न कर सके।

यह किस प्रकार सम्भव होगा?

यह सब करने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में वास्तव में विद्वानों की महिमा को सर्वोपरि माना जाय। यह भावना का विषय है। इसे शिक्षा द्वारा जन-मानस में उत्पन्न किया जा सकता है।

परन्तु वर्तमान युग में तो शिक्षा राज्य की चेरी बनी हुई है। अतः सर्वप्रथम शिक्षा को राज्य के चंगुल से मुक्त किया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब राज्य के कार्यों से सम्बन्धित संविधान की धाराओं में संशोधन किया जाय।

शिक्षा राज्य का विषय नहीं होना चाहिए। शिक्षा से हमारा अभिप्राय है मन, बुद्धि और आत्मा के स्वभाव का विकास। इसमें अक्षर ज्ञान अर्थात् भाषा का ज्ञान तथा आरम्भिक गणित, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान, मन, बुद्धि और आत्मा के स्वभाव के विकास में साधन हैं। ये विषय अर्थात् भाषा, गणित, इतिहास इत्यादि वास्तविक शिक्षा में साधन मात्र हैं। वह शिक्षा नहीं है, शिक्षा इन विषयों के आश्रय परन्तु इनसे सर्वथा पृथक् होती है।

अतः जहाँ भाषा आदि साधनों की शिक्षा दी जाती है वहाँ इनके प्रयोग की शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिए। किन्तु वह भी राज्याधीन नहीं होनी चाहिए। वह निर्मल और स्वतन्त्र आचार-विचार वाले विद्वानों का विषय है।

वर्तमान स्थिति में प्रारम्भिक अक्षर ज्ञान से आरम्भ कर सर्वोच्च शिक्षा तक राज्य के अधीन ही है। केन्द्र और राज्य-सरकारें शिक्षा मन्त्री और उसके अधीन शिक्षा विभाग चालू किये हुए हैं। इस प्रकार सरकारी शिक्षा विभाग ही पूर्ण शिक्षा पर अपना आधिपत्य स्थापित किये हुए है।

यहाँ तक कि राज्य यह भी देखने लगा है कि किसको क्या पढ़ाया जाय और क्या न पढ़ाया जाय। राज्य की सुविधा के लिए इतिहास को ही बदला जा रहा है। किसी भी विषय का कौन-सा अंश पढ़ाया जाय और कौन-सा न पढ़ाया जाय, यह भी विचार किया जाने लगा है। कौन व्यक्ति पढ़ाये और कौन न पढ़ाये, यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ाये तो कितना पढ़ाये, इसका निर्णय सरकारी शिक्षा विभाग करने लगा है।

यह ठीक है कि सरकारी शिक्षा विभाग शिक्षकों द्वारा राज्य करता है किन्तु वे शिक्षक भी तो सरकार के अपने नियुक्त किये हुए हैं। जो व्यक्ति राज्य के शिक्षा मन्त्री एवं उसकी नीति का समर्थक नहीं होता वह शिक्षक बन ही नहीं सकता। इस प्रकार शिक्षा विभाग के माध्यम से जो कुछ भी पढ़ाया जा रहा है वह सब सरकारी नीति का परिपोषक ही है।

यह बात केवल इतिहास के विषय में ही हो, ऐसी बात नहीं है। अपितु शिक्षा के सभी आधारभूत विषयों के सम्बन्ध में है।

उदाहरण के रूप में शुद्ध विज्ञान का विषय लिया जा सकता है। जगत् जो कि सौर-मण्डल का छोटा-सा भाग है, वह बना है, ऐसा सब वैज्ञानिक मानते हैं।

परन्तु इस जगत् के निर्माता के विषय में किसी सरकारी स्कूल अथवा कॉलेज में न केवल उसका नाम लेना वर्जित है अपितु वह उपहास का विषय बन जाता है।

इसका सम्बन्ध जगत् में विद्यमान पदार्थों से है अथवा नहीं, यह एक पृथक् बात है। परन्तु जगत् बनाने वाले के होने और उसके सामर्थ्य का घना सम्बन्ध मनुष्य के अपने जीवन से है। न तो कोई सरकार इस विषय में रुचिशील है और न कभी हो सकती है।

सरकार इसमें रुचि क्यों नहीं रखती? उसका कारण यह है कि यदि सरकार यह स्वीकार कर ले तो फिर उससे सरकार को सृष्टि के रचने वाले का ज्ञान होने पर यह मानने पर विवश होना पड़ेगा कि कोई उसपर भी नियन्त्रण रखने वाला है। किन्तु प्रजातान्त्रिक राज्य स्वयं पर किसी अन्य का नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है।

राज्य के ऊपर परमात्मा का अस्तित्व मानने से ईश्वरीय नियमों, ऋतों, अर्थात् राज्यों के प्राकृतिक नियमों को मानना पड़ेगा। इन ऋतों का राज्य पर नियन्त्रण राज्यों को स्वीकार नहीं। जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रजातान्त्रिक राज्य स्वयं पर किसी का नियन्त्रण स्वीकार करने को उद्यत नहीं होते।

शिक्षा के किसी भी विषय का उदाहरण लिया जा सकता है। गणित को ही लीजिये। यह ऐसा विषय है जिसे स्थिर और निश्चित माना जाता है। परन्तु इसमें भी ईश्वरीय नियम का आधिपत्य है। जब आइन्स्टाइन अपनी गिनती करता-करता अपनी सृष्टि के अन्तिम छोर पर पहुँच गया तो उसने घोषणा कर दी कि पृथिवी गोल है।

प्रश्न यह नहीं है कि पृथिवी गोल है अथवा कि चपटी। प्रश्न तो यह था कि इसका आरम्भ और अन्त है कि नहीं। आइन्स्टाइन का गणित इस विषय पर मौन है। जो समीकरण (इक्वेशन) उसने विचार की है वह सृष्टि के किनारे को प्रकट नहीं करती। और उसने यह कहकर बात छोड़ दी है कि सृष्टि-रचना एक बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े धमाके से आरम्भ हुई थी।

यह धमाका किसने किया, क्यों किया और कैसे किया ? इन विषयों पर आइन्स्टाइन मौन है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि गणित का भी कुछ उद्देश्य है और उसका आदि-अन्त भी है। इसके लिए गणित से ऊपर किसी का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु वह सरकारी शिक्षा में नगण्य है।

मीमांसा शास्त्र के आधारभूत प्रश्न हैं कब, क्या और क्यों ? इनका उत्तर सरकारी शिक्षा का विषय नहीं है। वह हो भी नहीं सकता। यही आश्रय है शिक्षा और वर्तमान शिक्षा, जो राजनीतिक लगाम के अधीन है, वह इसी आधारभूत प्रश्न पर मौन है। इस प्रश्न के उत्तर में ही संसार-भर के राज्यों के कानून का आधार है।

इसी प्रकार किसी भी अन्य विद्या का उदाहरण लिया जा सकता है। सब विद्याओं का आदि और अन्त एक आदि, अव्यय, अनन्त और असीम सामर्थ्य की सत्ता में है। मानव.समाज से उसका घना सम्बन्ध है। इस शिक्षा के आधारभूत बिन्दु में सरकार आपत्ति करती है।

सरकारी शिक्षा इस निष्कर्ष तक क्यों नहीं पहुँच सकती। उसका कारण यह है कि आजकल का प्रजातान्त्रिक राज्य उस निष्कर्ष तक पहुँचने में अपनी न्यूनता को स्वीकार नहीं करना चाहता और अपने से अन्य किसी को ऊपर नही मान सकता।

उसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि समस्त संसार में कामनाओं का अपार साम्राज्य स्थापित हो गया है। और उसके अधीन समस्त मानव प्राणी विचलित हो रहे हैं।

जब मनुष्य अपना उद्देश्य और उस उद्देश्य की प्राप्ति में कर्म का दर्शन नहीं करता तो फिर युद्ध, आक्रमण, डाके, हत्यायें, और इनके लिए साधन बटोरने में ही जीवन व्यतीत हो रहा है।

आधारभूत ज्ञान जबतक राज्य के नियन्त्रण से मुक्त नहीं होता तबतक मानव समाज में शान्ति नहीं हो सकती। और न ही मानव सृष्टि किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकती है।

यह किस प्रकार सम्भव होगा ? विशेषरूप में भारत में यह किस प्रकार सम्भव है, यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। हमने अपनी पुस्तक "राष्ट्र, राज्य और संविधान" में व्याख्या सहित इसका वर्णन किया है। यहाँ तो हमारा केवल इतना बताने से ही प्रयोजन है कि हिन्दू समाज आस्तिक समाज होने के कारण अपनी शिक्षा पद्धति को राज्य की दासता से मुक्त करे। इसके लिए राज्य के अतिरिक्त समाज को स्वयं क्रियाशील होना चाहिए। एक उपाय तो इसके लिए ऊपर बताया गया है कि समाज के धर्मस्थान, ऐतिहासिक और जातीय पर्व की व्यवस्था राज्य व्यवस्था से मुक्त करके समाज के अधीन कर दी जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar 168319

समाज की शिक्षा राज्य की सीमाओं से मुक्त की जाय।

: ३ :

समाज का स्वरूप

समाज का स्वयं करने का तीसरा कार्य है समाज के स्वरूप का निर्धारण, जो कि देखने वालों को दिखाई दे।

अधिकांश समाजों में इसको बाहरी लक्षणों से व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के रूप में हिन्दुओं में बहुत प्राचीनकाल में यह सिर पर चोटी धारण करना, तिलक लगाना, धोती पहनना और नाम विशेष द्वारा प्रकट किया जाता था। किन्तु ज्यों-ज्यों पाश्चात्य प्रभाव बढ़ता जा रहा है, ये बाहरी लक्षण विलुप्त होते जा रहे हैं। चोटी तो अब लगभग विलुप्त ही हो गई है। यज्ञोपवीत भी बहुत कम लोग धारण करते हैं। तिलक आदि भी बहुत कम लोग लगाया करते हैं।

पहरावे में धोती का स्थान पैंट ने ले लिया है। कोट भी पहना जाता है और टाई के बिना तो अब काम ही नहीं चलता। यद्यपि हम इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं देखते तदपि जातीय स्वरूप की आवश्यकता को तो अनुभव करते हैं।

एक ऐसा भी समय था जब यदि किसी की चोटी को छल अथवा बल से काट दिया जाता था तो यह माना जाता था कि अब उसकी वह जातीयता समाप्त हो गई है। कहीं-कहीं नाम बदल जाने से जातीयता बदल जाना मान लिया जाता था। यदि किसी ने रामचन्द्र के स्थान पर अपना नाम रहीमुद्दीन रख लिया तो समझ लिया जाता था कि वह हिन्दू से मुसलमान बन गया है। इसी प्रकार कोई करीम से अपना नाम क्रिस्टो रख लेता था तो समझा जाता था कि वह मुसलमान से ईसाई हो गया है। जो कोई पुनः अपने पूर्व समुदाय में वापस आना चाहता था तो उसको उसके पूर्व के सब लक्षण स्वीकार करने पड़ते थे।

परन्तु अब धीरे-धीरे नाम के अतिरिक्त अन्य बाहरी सभी लक्षण विलुप्त होते जा रहे हैं। उनको अनावश्यक समझा जाने लगा है।

इस स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हिन्दू समाज के घटकों का भी कोई बाहरी लक्षण होना चाहिए अथवा कि नहीं।

ये लक्षण मान्यताओं से पृथक् हैं। मान्यताओं में हमने कुछ भी ऐसा नहीं कहा जिसका कि सम्बन्ध जातीय स्वरूप से हो।

हमारी दृष्टि में यह अति जटिल प्रश्न है। लगभग पौने दो सौ राजनीतिक मानव समुदायों के लिए इतने बाहरी लक्षण क्यों हैं? क्या वे हो भी सकते हैं? मान लीजिए कि हो सकते हैं, तब क्या उनका किसी प्रकार कोई लाभ किसी जाति को होगा?

जब संसार में यातायात के साधन सीमित अथवा नगण्य थे तब इन लक्षणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का औचित्य सम्भव प्रतीत होता था। परन्तु अब तो यातायात के साधन इतने विस्तृत और सरल हो गये हैं, यही कारण है कि इससे अनेक समुदायों के बाह्य लक्षण विलुप्त होते जा रहे हैं।

अधिकांश देशों में अब कोट, पतलून और टाई साधारण परिधान माना जाने लगा है। अब वस्त्रों द्वारा जातीयता का स्वरूप विलुप्त हो गया है। कुछ इस्लामी देशों को छोड़कर समस्त संसार में एक समान वस्त्र धारण किये जाने लगे हैं।

इससे स्पष्ट है कि अब पहरावा जातीय लक्षण नहीं रहा। चोटी, जनेऊ और तिलक भी विलुप्त हो गये हैं। भाषा का ज्ञान अब देशगत जातियों का रह गया है परन्तु सांस्कृतिक समाजों में यह भी विलुप्त होता जा रहा है।

हिन्दू समाज इस सबमें कहाँ खड़ा है? यही प्रश्न है। क्या हिन्दू समाज के लिए बाहरी लक्षणों की आवश्यकता है? क्यों कोई हिन्दू विशेष प्रकार के वस्त्र पहने अथवा कोई अन्य बाहरी लक्षण रखे? और यदि रखे तो क्या रखे?

हम हिन्दू समाज को केवल एक स्थानीय समुदाय नहीं मानते। यह तो ठीक है कि भारत देश से हिन्दू समुदाय का विशेष सम्बन्ध है। हिन्दू समुदाय के स्वभाव में भारत के प्रति ममत्व भी है। परन्तु यह विषय तो यहाँ सरकार का है। इसी विषय पर तो असम में विवाद चल रहा है। असम के निवासियों की पहचान का विवाद है। यह विवाद हिन्दू अथवा अहिन्दू का नहीं है।

हम यहाँ पर हिन्दू समाज के बाहरी लक्षणों पर विचार कर रहे हैं। उस समाज के लक्षणों की जिसका वर्णन और जिसकी मान्यताओं को हमने प्रथम खण्ड में किया है, उसके बाह्य स्वरूप पर विचार किया जा रहा है।

प्रश्न यह है कि इस समाज की पहिचान के लिए किसी बाहरी लक्षण की आवश्यकता है अथवा कि नहीं? हम समझते हैं कि इसकी आवश्यकता है। कोई ऐसा लक्षण होना चाहिए कि जिसका मान्यताओं के साथ अटूट सम्बन्ध हो।

वह सम्बन्ध भाषा का है। उन मान्यताओं को जो स्वीकार करते हैं, जहाँ तक विदित हो पाया है, उनका सम्बन्ध संस्कृत भाषा से है। इन मान्यताओं को स्वीकार करने वालों का विचार करने का माध्यम सदा संस्कृत भाषा ही रही है। और आज भी, संसार की सांझी भाषा अंग्रेजी होते हुए भी, हिन्दू समाज का सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत भाषा में ही है।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि हिन्दू समाज की मान्यताओं की व्याख्या जिस विशेषता से संस्कृत भाषा में व्यक्त की जाती है वह किसी अन्य भाषा में व्यक्त की ही नहीं जा सकती।

इतना तो निर्विवाद है कि इन मान्यताओं के मानने वालों का ऐतिहासिक सम्बन्ध संस्कृत भाषा के साहित्य से ही है।

अतः हिन्दू समाज का श्रेष्ठ बाहरी लक्षण इस भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में नहीं हो सकता ऐसा हमारा सुविचारित मत है।

इसका एक चिह्न तो अभी भी हिन्दू समाज में विद्यमान है। वह है हिन्दू समाज के घटकों के नाम। अधिकांश घटकों के नाम संस्कृत भाषा और साहित्य से लेकर ही रखे जाते हैं।

हमारा विचार है कि समाज के घटकों में समीपता प्रकट करने और दूसरों से भिन्नता प्रकट करने के लिए सबसे प्रथम और सुगम उपाय नाम के जानने से ही है।

इसके जानने की आवश्यकता और लाभ यह है कि मान्यताओं को मानने वालों को जानने का यह एक मोटा और सुगम उपाय है। यह मिथ्या भी हो सकता है परन्तु सामान्य जीवन में इसका लाभ है।

समाज के घटकों में सम्पर्क, सहकारिता तथा वार्तालाप, व्यापारिक सम्पर्क अंग है जो अंग्रेजी 'सोशल बिहेवियर' कहलाता है। इस व्यवहार के कारण ही मानव सामाजिक प्राणी माना जाता है। इस व्यवहार में ही पुस्तक के आरम्भ में कही मान्यताओं का घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज के घटकों के नाम इन मान्यताओं का प्रथम संकेत हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। दो व्यक्ति रेल में यात्रा करते हुए जा रहे हैं। वे परस्पर बातें करने लगते हैं। उनमें से एक का नाम हो रामगुलाम और दूसरे का गुलाम मोहम्मद तो परस्पर के वार्तालाप में बहुत-से प्रतिबन्ध स्वतः ही प्रकट हो जायेंगे। रामगुलाम के लिए यह आवश्यक हो जायेगा कि वह सावधान रहे कि कहीं गुलाम मोहम्मद को यह न कह बैठे कि हजरत मोहम्मद औरतों को घर की मेज-कुर्सी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं समझते थे। वह हजरत मोहम्मद के गैर-मुसलमानों के साथ किए गये व्यवहार की बात भी नहीं करेगा। नाम जान लेने से ये तथा इस प्रकार के अन्य अनेक प्रतिबन्ध स्वतः समुपस्थित हो जाया करते हैं।

और यदि कहीं वह सहयात्री रामचन्द्र अथवा कृष्णमूर्ति हो तो बिना यह जाने कि उनमें से एक स्वामी शंकराचार्य का मतानुयायी है अथवा कि नहीं, वह निश्शंक हो द्वैतवाद अथवा त्रैतवाद की निन्दा-स्तुति करने लगेगा।

इस अवसर पर तो यह भी कहने का साहस किया जा सकता है देवदासियों की प्रथा एक प्रकार से वेश्याओं का बाजार है अथवा कि धर्म और पवित्रता का श्रेष्ठ संगम।

नाम का ज्ञान होने से यह सामान्य-सी सुविधा हो जाती है। वैसे समाज में घनिष्ठ सम्बन्धों के बनने अथवा न बनने में पूर्व होता ही है। अतः हमारा यह मत है कि समाज के घटकों के नाम इस विशेष भाषा में होने के कारण जीवन सुलभ, सरस और सरल होने में सहायक बन जाता है।

अतः समाज के बाह्य लक्षणों के नियत करने में जीवन में सुगमता और सरलता होगी। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के मिशनों की बात छोड़कर भी हम हिन्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज, जिसकी मान्यताओं के विषय में कह रहे हैं, का बाहरी रूप संस्कृत भाषा में नाम एक अति उपकारी और सुगम एवं निरापद उपाय है।

हम संस्कृत भाषा को क्यों उपयुक्त समझते हैं, इसके निम्न कारण हैं—

१. सभी हिन्दू शास्त्र तथा अन्यान्य विद्याओं के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध हैं।
२. संस्कृत भाषा संसार की अन्य सब भाषाओं से अति मधुर, सरल और ठीक-ठीक अर्थ प्रकट करने वाली भाषा है।
३. संस्कृत भाषा की वर्तमान लिपि संसार की सब भाषाओं की लिपियों से अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण है।
४. भाषाओं और लिपियों का सर्वाधिक आवश्यक गुण संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि में विद्यमान है।

अतः हमारा यह मत है कि मान्यताओं के साक्षी रूप नाम सरल और सार्थक भाषा में हों। यह भाषा संस्कृत और लिपि देवनागरी ही हो सकती है।

इस अनुपम उपलब्धि से अधिकाधिक लाभ उठाया जाय यह हमारा सुविचारित मत है।

: ४ :

भाषा

समाज की बोलचाल की भाषा का प्रश्न पृथक् है। नाम का सम्बन्ध समस्त हिन्दू समाज से है। चाहे वह भारत में रहने वाला हिन्दू हो अथवा कि किसी अन्य देश में रहने वाला हो।

हम हिन्दू समाज की कल्पना अर्थात् उस समाज की कल्पना जिसकी मान्यतायें हम इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में व्यक्त कर चुके हैं किसी देश अथवा किसी भूखण्ड में सीमित नहीं मानते।

जब हम हिन्दू शब्द का सम्बन्ध इसके घटकों की मान्यताओं से मानते हैं तो हमने इसे भौगोलिक सीमाओं को पार करके ही माना है। इस कारण समाज की भाषा, नित्य प्रति के व्यवहार का माध्यम तो अपने-अपने देश की भाषा ही होगी। हमें अपने समाज का साहित्य और इतिहास उस देश की भाषा में अनूदित करने का यत्न करना चाहिए। जातीय भाषा उस देश की भाषा ही होनी चाहिए जिस देश में समाज के घटक रहते हों। यद्यपि यह निर्विवाद है कि संस्कृत भाषा और इसकी लिपि सरलतम और वैज्ञानिक है।

मानव समाज यदि कभी समस्त भूमण्डल की एक भाषा के निर्माण का विचार करने लगे तो उस विचार में संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि अपने-अपने अधिकार से ही स्वीकृत हो जायेंगी। जैसे किसी भी व्यवहार का प्रचलित होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सबके द्वारा स्वीकार किया जाना एक प्रबल युक्ति है। इसपर भी व्यवहार की शुद्धता, सरलता और सुगमता उसके स्वीकार किये जाने में प्रबल युक्ति है।

संक्षेप में हमारा यह मत है कि संसार की वर्तमान परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न देशों में रहते हुए भी हिन्दू समाज अपने-अपने देश की भाषा को अपनी भाषा मानेंगे और भारत के हिन्दू समाज का यह कर्तव्य है कि अपना मूल साहित्य उन देशों की भाषा में अनूदित करायें जिन-जिन देशों में हिन्दू संकृति के मानने वाले रहते हैं।

समस्त संसार की एकमात्र भाषा और उसकी एक लिपि का प्रश्न तो भविष्य के गर्भ में है। जब कभी इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होगा तब संस्कृत भाषा और देवनागरी का दावा प्रस्तुत किया जायेगा। और भाषा के रूप में संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि अपनी योग्यता के आधार पर विचारणीय होगी ही।

परन्तु इससे पूर्व हमें एक बात करनी होगी। वह यह कि समाज के प्रयोग में लाई जाने वाली संस्कृत भाषा को एक सीमा तक नया रूप देना होगा। यद्यपि हम यह दावा नहीं करते कि जो कुछ हम यहाँ कह रहे हैं वह स्वीकार ही किया जाना चाहिए, अथवा कि उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। तदपि अपने अनुभव और विचार के आधार पर हम यह कहते हैं कि पाणिनि की संस्कृत संसार की भाषा बनने की क्षमता नहीं रखती।

इस सम्बन्ध में हम केवल दो सुझाव देना चाहेंगे। एक तो यह कि समास बनाने के विधि-विधान को आमूल-चूल बदलना होगा। इससे भाषा के अर्थ पढ़ने वाले की बुद्धि पर निर्भर करने लगते हैं न कि लिखने वाले के भावों पर। समासों का चलन न्यूनतम होना चाहिए। हमारा दूसरा सुझाव यह है कि वाक्य निर्माण में जितने अर्थ में अपवाद हैं उनको न्यूनातिन्यून, सम्भव हो तो शून्य समान रह जाना चाहिए। इन दोनों दिशाओं में संस्कृत भाषा के कर्णधारों को विचार करना चाहिए।

यहाँ हम सबके व्यवहार की संस्कृत भाषा के विषय में लिख रहे हैं। प्राचीन शास्त्रों अथवा वेद की भाषा के विषय में नहीं। आज भी वेद की भाषा को समझने के लिए सामान्य व्याकरण से पृथक् एक अन्य विधा है। उसे निरुक्त कहते हैं। निरुक्ताचार्यों का मत है कि जहाँ निरुक्त और व्याकरण में विवाद हो वहाँ वेदार्थ करने में निरुक्त के अनुसार निर्वचन करना चाहिए और व्याकरण को छोड़ देना चाहिए। व्याकरण से हमारा अभिप्राय तत्कालीन प्रचलित भाषा के विधि-विधान से है।

यह सम्भव होगा अथवा कि नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, इसकी कल्पना अवश्य की जा सकती है। जो बात आवश्यक है वह हिन्दू समाज को अपना मूल साहित्य और इतिहास संसार की उन सब भाषाओं में अनूदित करने का यत्न करना चाहिए जहाँ-जहाँ पर्याप्त संख्या में हिन्दू रहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है हम समझते हैं कि यह प्रश्न इतना जटिल नहीं जितना कि संसार के अन्य देशों में है। भारत के वर्तमान संविधान के अनुसार भारत की सोलह राजकीय भाषायें हैं। इन भाषाओं में परस्पर किसी प्रकार का विवाद भी नहीं है। हिन्दी के समर्थकों ने कभी भी यह दावा नहीं किया कि किसी क्षेत्रीय भाषा के स्थान पर उसका प्रचलन किया जाय। न ही कभी इस बात पर विवाद हुआ है कि किसी क्षेत्रीय भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने में बाधा उत्पन्न की जाय।

स्वराज्य के आरम्भ के काल में किसी मूर्ख हिन्दी भाषी श्रोता ने किसी के तमिल अथवा बँगला बोलने पर आपत्ति की होगी। यह उसके ज्ञान की शून्यता और बुद्धि की दुर्बलता के कारण हुआ होगा। हिन्दी का किसी भी क्षेत्रीय भाषा से न कभी किसी प्रकार का विवाद रहा है और न ही अब है।

वास्तविक विवाद तो अंग्रेजी और हिन्दी भाषा के मध्य है। यह विवाद इंडियन नेशनल काँग्रेस की देन है। जब १८५५ में इंडियन नेशनल काँग्रेस का बम्बई में प्रथम अधिवेशन हुआ था उसमें ही यह कहा गया था कि इस संस्था की कार्यवाही अँग्रेजी भाषा में हुआ करेगी। उस समय इसका विकल्प भी नहीं था। क्योंकि उस समाज में केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही थे। वहाँ कॉलेज अथवा विश्वविद्यालयों के स्नातकों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। न ही इस संस्था को किसी प्रकार का सार्वजनिक मंच बनाने का ही विचार था। और उस समय कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि कभी भारत से ब्रिटिश साम्राज्य का सफाया भी होगा।

कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह निश्चित है कि तब से अंग्रेजी की महिमा बढ़ती रही है। और वह निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। बाल गंगाधर तिलक ने दक्षिण में और आर्यसमाज ने उत्तर में इसका विरोध किया। आर्यसमाज का विरोध तो १९०७ में जब ब्रिटिश सरकार का कुठाराघात हुआ तो धीमा पड़ गया और श्री तिलक के आन्दोलन की समाप्ति उनके पकड़े जाने और छः वर्ष तक बन्दी-गृह में बन्द रहने के कारण हुई।

जहाँ तिलक जी जेल से मुक्त होने के उपरान्त महात्मा गाँधी की ख्याति का विरोध नहीं कर सके वहाँ आर्यसमाज भी गाँधीजी के आन्दोलन के सम्मुख नत हो गया।

महात्मा गाँधी प्रत्यक्ष में तो सार्वजनिक नेता थे परन्तु उन्होंने अपने और काँग्रेस के आन्दोलन की लीडरी अंग्रेजी पढ़े-लिखे के हाथ में ही रखने का भरसक प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि काँग्रेस की जन्म के समय की नीति कि अंग्रेजी ही उनके आन्दोलन की भाषा होगी, स्थिर रही और वही आज तक भी चली आ रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा माना जाता है कि १९२०-२१ में पं० जवाहरलाल नेहरू की प्रतिष्ठा गाँधीजी के मन में इसी कारण थी कि वे काँग्रेस के प्रस्तावों को अंग्रेजी भाषा में भली-भाँति व्यक्त कर सकते थे। कालान्तर में तो नेहरू ही काँग्रेस के सर्वेसर्वा हो गये थे। किन्तु यह सम्भव तभी हुआ था जबकि गाँधीजी ने आरम्भ में अपने कंधे पर बैठाकर उनको प्रतिष्ठित करने में सहायता की थी। नेहरूजी तो मन से ही अंग्रेजी के भक्त थे। उन्हें अंग्रेज़ी का अच्छा लेखक माना जाता था। उनका सम्बन्ध भी अंग्रेजीदां लोगों से ही अधिक था। १९२० से लेकर १९४७ तक गाँधीजी ने प्रयास करके नेहरूजी को काँग्रेस की सबसे पिछली पंक्ति से ला कर न केवल प्रथम पंक्ति में बैठा दिया, अपितु उनको काँग्रेस का मंच भी सौंप दिया। सन् १९२० में जब पंजाब में मार्शल लॉ लागू किया गया था तो उस समय काँग्रेस ने इसके लिए एक उप-समिति का गठन किया। उस समय एक मीटिंग में हमको भी जाने का सुअवसर मिला था। उस समय पं० जवाहरलाल नेहरू की जो स्थिति थी, वह हमको स्मरण है। लाहौर में नकेन की हवेली में पं० जवाहरलाल नेहरू का भाषण आयोजित किया गया था हम भी उनका भाषण सुनने के लिए वहाँ गये थे। उस समय नेहरू को सुनने के लिए पन्द्रह-बीस से अधिक श्रोतागण वहाँ पर उपस्थित नहीं थे।

सन् १९२९ में लखनऊ में काँग्रेस कमेटी का अधिवेशन हो रहा था। उसी वर्ष लाहौर में सम्पन्न होने वाले काँग्रेस के अधिवेशन के लिए अध्यक्ष का निर्वाचन किया जाना था। उसके लिए महात्मा गाँधी और डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया के नाम थे। सीतारामैया ने महात्मा गाँधी के पक्ष में अपना नाम वापस ले लिया।

लखनऊ के गंगाप्रसाद हॉल में बैठक हो रही थी। हम वहाँ की दर्शक-दीर्घा में उपस्थित थे। उस बैठक के अध्यक्ष पण्डित मोतीलाल नेहरू थे। सबको यही आशा थी कि अध्यक्ष पद के लिए महात्मा गाँधी के नाम की घोषणा हो जायेगी। इसे सर्वसम्मत निर्णय माना जा रहा था।

किन्तु तभी कुछ विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। पहले तो कानाफूसी होती रही और फिर जब घोषणा करने का समय आया तो उससे कुछ ही क्षण पूर्व गाँधी और मोतीलाल नेहरू मंच पर से उठकर बराबर वाले कमरे में मन्त्रणा करने के लिए चले गये। पाँच-दस मिनट वहाँ विचार-विमर्श करने के उपरान्त जब दोनों वापस आये तो पण्डित मोतीलाल नेहरू ने घोषणा करते हुए कहा, "महात्माजी ने जवाहरलाल नेहरू के पक्ष में अपना नाम वापस ले लिया है।" इस प्रकार लाहौर काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए जवाहरलाल नेहरू के नाम की घोषणा हो गई।

सभी उपस्थित सदस्य तथा दर्शक यह सुनकर अवाक् थे। कुछ मिनट तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस घोषणा का अर्थ समझने में ही लगे। जब बात समझ में आई तो तब किसी ने ताली बजाई और फिर सबने उसका अनुकरण किया।

वहाँ से उठने पर कानाफूसी होने लगी कि जवाहरलाल का नाम किस प्रकार आ गया। किसी ने कहा कदाचित् एक भी मत उसके पक्ष में नहीं था।

इसी प्रकार सन् १९३६ की लखनऊ काँग्रेस के अवसर पर महात्मा गाँधी के आग्रह पर ही जवाहरलाल नेहरू को काँग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया था। इसकी पुनरावृत्ति सन् १९४६ में भी हुई थी। उस समय भी किसी भी प्रान्तीय कमेटी की ओर से जवाहरलाल नेहरू के नाम का प्रस्ताव नहीं आया था। तदपि गाँधी जी के आग्रह पर श्री कृपलानी जी की कूटनीति वश जवाहरलालजी को काँग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया और फिर संयोग से उन्हीं को भारत का प्रधानमन्त्री भी बनाया गया।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि गाँधीजी स्वयं हिन्दी के समर्थक थे। किन्तु सन् १९२० से आरम्भ कर अपने अन्तिम क्षण तक वे अंग्रेजी भक्त नेहरू का ही समर्थन करते रहे थे। नेहरू का भरसक प्रयत्न यही था कि अंग्रेजी यहाँ की राष्ट्रभाषा बन जाय।

इससे स्पष्ट है कि आरम्भ से लेकर अन्त तक काँग्रेस हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने नहीं देना चाहती थी। उसका कारण यह नहीं था कि क्षेत्रीय भाषायें हिन्दी का विरोध करती थीं।

भारतवर्ष में विगत ३५ वर्ष में लगभग काँग्रेस ही सत्ता में रही है और उसने निरन्तर अंग्रेजी की ही सहायता की है, उसका ही प्रसार-प्रचार किया है।

वर्तमान में भी हिन्दी का विरोध किसी क्षेत्रीय भाषा के पक्ष के कारण नहीं अपितु अंग्रेजी के पक्ष के कारण किया जा रहा है।

तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि इस देश की भाषा वही होगी जोकि हिन्दू समाज की भाषा है अथवा कि उसका स्थान अंग्रेजी ले लेगी? लक्षण तो कुछ इस प्रकार के दिखाई देते हैं कि इस संघर्ष में हिन्दी की पराजय होगी और अंग्रेजी की विजय हो जायेगी। उसका कारण यह है कि सन् १८८५ में स्थापित काँग्रेस ने स्वयं संघर्ष का जीवन जिया है। किन्तु जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, काँग्रेस सदा ही अंग्रेजी के पक्ष में रही है।

इसमें काँग्रेस के लीडरों का भी किसी प्रकार दोष नहीं है। हिन्दी के समर्थक इसके लिए दोषी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो हिन्दू समाज इसके लिए दोषी है। आज तक हिन्दू नेता यह समझते रहे हैं और आज भी यही समझते हैं कि राज्य के विरोध करने पर भी हिन्दू समाज के आधारभूत सिद्धान्तों का चलन होता रहेगा।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि काँग्रेस हिन्दू संस्था नहीं है। इसके विपरीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह कहा जाय कि अपने आधारभूत सिद्धान्तों द्वारा काँग्रेस हिन्दू विचारधारा का विरोध करने वाली संस्था है तो किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं होगी।

काँग्रेस न केवल अंग्रेजियत को ही अपना कंठाभरण बनाये हुए है अपितु यह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की शिक्षा के आधार पर ईसायत के प्रचार को भी अपना कंठाभरण बनाये हुए है। इस मानसिकता को ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की मानसिकता का नाम दिया जाता है, क्योंकि इस युनिवर्सिटी की स्थापना ही ईसा-इयत के प्रचार के लिए की गई थी। आज भारत सरकार की यही मानसिकता है। इसके लिए जवाहरलाल नेहरू का काँग्रेस पर वर्चस्व ही मुख्य कारण है। जवाहरलाल नेहरू की मानसिकता वही थी।

हम तो यही चाहते हैं कि किसी भी प्रकार शिक्षा सरकारी हाथों में नहीं रहनी चाहिए। स्वाभाविक रूप में शिक्षा और फिर भाषा का प्रश्न राजनीतिक लोगों के हाथों से निकालकर शिक्षाविदों के हाथों में आ जाना चाहिए। शिक्षा का माध्यम जन-साधारण की भाषा होनी चाहिए। विभिन्न प्रदेशों में यह क्षेत्रीय भाषाओं में दी जानी चाहिए। उस स्थिति में हिन्दू संस्कृति का प्रचार-प्रसार क्षेत्रीय भाषाओं का उत्तरदायित्व हो जायेगा। अपने क्षेत्र में हिन्दी भी ज्ञान-विज्ञान की वाहिका बन जायेगी।

जहाँ तक हिन्दू समाज का सम्बन्ध है, हम चाहते हैं कि इसका प्रचार क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से किया जाना चाहिए। शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। सरकारी कामकाज भी विभिन्न क्षेत्रों में उनकी क्षेत्रीय भाषा में ही होना चाहिए। अंग्रेजी अवैज्ञानिक भाषा है और इसकी लिपि भी पूर्ण नहीं अपितु पंगु है। क्षेत्रीय भाषाओं के पनपने पर यह स्वतः ही पिछड़ जायेगी।

राज-काज किस प्रकार चल सकेगा? यह इस पुस्तक का विषय नहीं है। तदपि इसकी व्याख्या हमने अपनी पुस्तक "राष्ट्र, राज्य और संविधान" में की है।

हम अंग्रेजी का विरोध किस लिए करते हैं? उसका कारण यही है कि अंग्रेजी का साहित्य संस्कृत और वैदिक साहित्य की तुलना में किसी महत्त्व का नहीं है। हिन्दू मान्यताओं की भलीभाँति विस्तार सहित व्याख्या कदाचित् अंग्रेजी में उस सुन्दरता से हो भी नहीं सकती जिस प्रकार कि संस्कृत में की जा सकती है। संस्कृत भाषा में वर्णित उद्‌गारों अथवा भावों का प्रकटीकरण हिन्दी में बड़ी सुन्दरता से किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी का अगला पग संस्कृत ही है कोई अन्य भाषा नहीं। संस्कृत के उपरान्त वेद भाषा उसका अगला पग है। अतः हिन्दू सुरक्षा का प्रश्न पूर्ण रूप से भाषा के साथ जुड़ा हुआ है। भले ही वर्तमान में उपलब्ध संस्कृत साहित्य तकनीक में अंग्रेजी साहित्य के समक्ष पूर्ण न हो परन्तु मानव मन के उत्थान के लिए हिन्दी और संस्कृत भाषा में अतुल साहित्य भण्डार विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

: १ :

आधारभूत ज्ञान

जातीय उत्थान और जातीय सुरक्षा के लिए हमने अब तक चार ऐसी बातें बतायी हैं जो राज्य से स्वतन्त्र रहकर की जानी चाहिए। एक है मनुष्य अर्थात् जातीय घटकों के आध्यात्मिक विचारों के शोधन में जाति में होने वाले ह्रास को रोकने का उपाय। इसके लिए हमने बुद्धि और जीवात्मा की शिक्षा की बात कही है। जातीय सुरक्षा के लिए जो दूसरी बात हमने बताई है वह है जाति के विद्वानों को राजतन्त्र से स्वतन्त्र रखना। प्रजातान्त्रिक राज्यों में यह बात सर्वाधिक महत्त्व की है।

जातीय सुरक्षा के लिए जो तीसरी बात है वह है जातीय घटकों के नामों में समानता अर्थात् उनके स्रोत में समानता। हमारा मत है कि नाम संस्कृत भाषा अथवा ऐतिहासिक पुरुषों एवं घटनाओं और जातीय उपलब्धियों से सम्बन्धित होने चाहिए।

चौथी बात जो हमने कही है वह जातीय भाषा के सम्बन्ध में है। वहाँ पर हमने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि देश की भाषा वही होनी चाहिए जो जाति के कामकाज और व्यवहार की भाषा है।

यहाँ हम यह बताना चाहते हैं कि उक्त चार बातों को क्रियान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञानार्जन के कार्य और ज्ञान के उपयोग का कार्य राज्य से स्वतन्त्र हो।

इस विषय में हम चाहते हैं कि हम ज्ञान की परिभाषा कर दें। स्थूल रूप में इसको दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक है आधारभूत ज्ञान। इसे अंग्रेजी में फण्डामेंटल साइंस कहते हैं। इसमें उन सिद्धान्तों का ज्ञान है जिनके अनुसार जगत् की रचना होती है। इसे वैदिक भाषा में ज्ञान, परमब्रह्म का ज्ञान अथवा केवल परम का ज्ञान कहते हैं। दूसरी प्रकार का ज्ञान है जो उन आधारभूत सिद्धान्तों के प्रयोग से मनुष्य की सुख-सुविधा के लिए साधन निर्माण करता है। इसको टेक्नोलॉजी कहते हैं।

हमारा मत है कि पहले 'परम का ज्ञान' तो केवल विद्वानों द्वारा विद्वानों को जोकि राज्य तथा राज्य नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र हों, जीवन और कार्य में लाने के योग्य है। इसके प्रसारण तथा इसमें अन्वेषण का अधिकार केवल मात्र जाति के विद्वानों को ही होना चाहिए।

आधारभूत ज्ञान अर्थात् फण्डामेंटल साइंस है सृष्टि रचना का इतिहास। इसमें कारण और उसके कार्य अर्थात् इसके होने की प्रक्रिया। साथ ही उन प्राकृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्तियों का ज्ञान जिनसे इस जगत् की रचना सम्पन्न हुई है।

हम इसे राज्य के कार्य का विषय क्यों नही समझते ? उसका कारण यही है कि सृष्टि-रचना में अनेक महान् शक्तियाँ कार्यरत होती हैं। उनका ज्ञान हम राज्य-अधिकारियों के हाथ में नहीं देना चाहते हैं क्योंकि राज्याधिकारी मूलतया क्षत्रिय प्रकृति के होते हैं, ब्राह्मण प्रकृति के नहीं।

सृष्टि रचना में प्रयुक्त होने वाली शक्ति का अति न्यून-सा अंश भी यदि किसी राज्य अथवा राज्याधिकारी के अधिकार में होगा तो वह उस शक्ति के आश्रय समस्त संसार को अपनी उँगलियों पर नचाने का यत्न करेगा। वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या यही बनी हुई है कि सृष्टि रचना में प्रयुक्त होने वाली शक्ति का एक अंश भूमण्डल के कुछ राज्यों के अधीन हो गया है।

अतः हम इसमें यह समान विधि-विधान चाहते हैं कि प्रकृति की आधारभूत शक्तियों का ज्ञान, उनमें खोज करने का अधिकार और उनपर नियन्त्रण राज्यों के अधीन न हो। राज्यों को इसके समीप भी नहीं फटकने देना चाहिए।

यह तो बात है ईश्वरीय महान् शक्ति की। इसके अतिरिक्त भी आधारभूत ज्ञान है। उदाहरण के रूप में प्राणी की उत्पत्ति। मनुष्य ने इस ज्ञान को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया है। आज भी वह अनथक प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह प्राणी की रचना के ज्ञान को प्राप्त कर सके।

सृष्टि रचना का ज्ञान प्राप्त करने का हम मानव अधिकार स्वीकार करते हैं। परन्तु अधिकार तो योग्यता के अनुरूप ही होना चाहिए। अयोग्य अथवा बुद्धि-विहीन को कुछ भी अधिकार नहीं मिलना चाहिए। राज्य तो क्षत्रिय स्वभाव वालों की क्रीड़ा-भूमि होता है। क्षत्रिय स्वभाव वाले राजसी बुद्धि के होते हैं। इस बुद्धि के लक्षण हैं :

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।भ० गी० १८-३१।।

अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता वह बुद्धि राजसी है।

राज्य कार्य में प्रायः इसी बुद्धि के लोगों का प्रभुत्व होता है। यदि कभी कोई सात्विकी बुद्धि वाला व्यक्ति वहाँ पहुँच भी जाए तो प्रायः वह राजकार्य में सफल नहीं हो पाता। वर्तमान संसार में विषमता का कारण ही यह है कि राज्य ने बुद्धि-युक्त कार्य को अपने अधीन कर लिया है।

किसी अल्प बुद्धि वाले ने यह प्रचार कर दिया कि राज्य प्रजातान्त्रिक होना चाहिए। इससे राजसी प्रकृति के लोग जनसाधारण के अधीन होने से संसार में सुख और शान्ति व्याप्त हो जायेगी। किन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत हुई है। आज तो संसार से सुख और शान्ति सर्वथा विलुप्त ही हो गई है। संसार के सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य अपनी बुद्धि विहीन नीति को चालू रखने लिए दूसरों को धोखा देने का यत्न कर रहे हैं। परन्तु क्या उनको इसमें भी सफलता मिल रही है ?

हम प्रजातान्त्रिक राज्य के विरोधी नहीं हैं। किन्तु जबतक इसके दोषों को दूर नहीं किया जाता तबतक यह पद्धति सफल नहीं हो सकती। समानता प्रजातान्त्रिक पद्धति का मुख्य दोष है। यहाँ सब धान बाईस पसेरी होता है। उसका परिणाम यह होता है कि धूर्तों की बन आती है। धूर्त बलशालियों से समझौता करके प्रजातन्त्र के स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में तानाशाही ही स्थापित करते हैं।

हम समझते हैं कि इसका एक मात्र कारण है प्रजातान्त्रिक राज्य में विद्वानों को राज्याधीन रखना। उच्च से उच्च कोटि का वैज्ञानिक, मीमांसक, गणितज्ञ आदि राज्य के कर्मचारी बना दिये गये हैं। उनको तो अब अपनी विद्वत्ता पर भी अधिकार नहीं रहा है। यदि कोई विद्वान् अपना अधिकार व्यक्त करता है तो उसको बन्दीगृह में भेज दिया जाता है अथवा उसे निपट निर्धनता एवं कष्टमय जीवन व्यतीत करने को विवश कर दिया जाता है।

यदि प्रजातान्त्रिक राज्य को अपना स्वत्व रखना है तो उसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह विद्वानों के लिए स्थान सुरक्षित करे।

इसीलिए हमारा कहना है कि आधारभूत ज्ञान का संचालन राज्य से स्वतन्त्र रखकर उसको विद्वानों के अधीन कर दिया जाना चाहिए।

इस अवसर पर यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि विद्वानों की परख कौन करेगा ?

उत्तर सरल है। विद्वानों की परख तो विद्वान् ही कर सकते हैं। अर्थात् विद्वानों का निर्माण उनको विद्वान् पद देने और उनको सुरक्षित रखने का कार्य विद्वानों के हाथ में ही होना चाहिए।

धीरे-धीरे समय पाकर विद्वान् मण्डली एक क्षेत्र बन जायेगी। उसमें क्षत्रिय स्वभाव के लोग अर्थात् राजसी प्रकृति के लोग हस्तक्षेप नहीं कर पायेंगे। इस विषय में भी हम अपनी अन्य पुस्तकों में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। यहाँ तो केवल उतना बताने से ही अभिप्राय है कि ज्ञान का वह आधारभूत अंग विद्वानों के संरक्षण में ही रहना चाहिए।

अपने इतिहास के प्राचीन ग्रन्थों में यह लिखा हुआ मिलता है कि क्षत्रिय लोग दिव्यास्त्र प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा अथवा इन्द्र के पास जाया करते थे। तब वे प्रार्थी की परीक्षा करके उसको एक-दो अस्त्र दे दिया करते थे। किन्तु इसमें भी कभी-कभी भूल हो जाया करती थी जिसके परिणामस्वरूप रावण, मेघनाद, कर्ण प्रभृति राजसी स्वभाव के जनों को वे दिव्यास्त्र मिल जाया करते थे। परन्तु यह कभी-कभी होता था। सात्विकी बुद्धि वालों को शस्त्रास्त्र देकर दूसरों को नियन्त्रण में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाता था।

कुछ इसी प्रकार की बात हम चाहते हैं। प्रकृति की दिव्य शक्तियाँ यदि कभी अविद्वानों को मिल जायें तो अधिकारी को वह अथवा उससे भी श्रेष्ठ शक्ति देकर दुष्ट को नियन्त्रण में रखा जा सके।

यह तभी सम्भव है जबकि संसार में एक ऐसा मंच निर्माण किया जाए। वह मंच ज्ञानवानों के अधीन हो और उनके अधीन ही अपना कार्य चलाये।

हमारा मत है कि ज्ञान-विज्ञान के आधारभूत कार्य और उसके प्रयोग पर केवल विद्वानों का ही नियन्त्रण होना चाहिए। राज्यकार्य करने वालों के अधीन यह बिल्कुल भी नहीं दिया जाना चाहिए। इसके लिए संसार के विद्वानों और जनता को बहुत बड़ा संघर्ष करना पड़ेगा।

ज्ञान का एक दूसरा भी अंग है। वह है प्राकृतिक शक्ति से मानव की सुख-सुविधा का प्रबन्ध करना। इसको टैक्नोलॉजी कहते हैं। वह राज्यों के पास हो अथवा कि धनी-मानी व्यक्तियों के पास, यह एक पृथक् प्रश्न है।

एक सरल से उदाहरण से बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरण में इतिहास का ज्ञान लीजिये। जब से हिन्दू राज्य पद्धति क्षीण होने लगी है तब से राजा लोग अपने-अपने राज्य का इतिहास अपने अधीनस्थ इतिहासकारों से लिखवाने लगे हैं। उसका परिणाम यह हुआ कि वह इतिहास एक साधारण वही-खाते जैसा बनकर केवल वृत्तान्त मात्र रह गया है। वह इस प्रकार कि मानो उस वहीखाते को किसी मूर्ख और धूर्त ने साहूकार के लाभ के लिए लिखा हो। राजा लोग अब अपनी इच्छा से इतिहास लिखवाने लगे हैं।

इस प्रक्रिया से तो इतिहास लिखने का उद्देश्य ही निर्मूल हो गया है। इतिहास भविष्य के आचरण का दिशा दर्शन कराता है किन्तु उसकी अपेक्षा वह उच्छृंखल और धूर्त तथा मूर्ख राजाओं की चाटुकारी मात्र रह गया है।

आज यह माना जाने लगा है कि दिल्ली की कुतुब मीनार को कुतुबुद्दीन ने बनवाया था। इसमें सन्देह नहीं कि कुतुबुद्दीन का यहाँ राज्य रहा है। शाहजहाँ, जिसको अपनी हजारों विवाहिता और उतनी ही अविवाहिता पत्नियों से ही अवकाश नहीं था, कहा जा रहा है कि उसने ताजमहल जैसे सुन्दरतम स्मारक का निर्माण करवाया था। जिन मूर्खों को अपनी नाक तक साफ करने का ढंग नहीं आता, उनके नाम पर ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ लिखे माने जाते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में हमारा यह सुविचारित मत है कि मानव समाज एतदर्थ हिन्दू समाज का भविष्य इसी में है कि विद्वान् का कार्य राजसी कार्य से पृथक् कर दिया जाय और फिर प्रजातान्त्रिक पद्धति से अथवा किसी और रीति से राज्य-अधिकारियों को विद्वानों की इच्छानुसार कार्य करने पर बाध्य किया जाय।

अर्थात् आधारभूत ज्ञानार्जन का कार्य राज्य से मुक्त कर दिया जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ तक तकनीकी शिक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध है उसका प्रबन्ध राज्य के अधीन किया जा सकता है। वह धनी-मानी व्यक्तियों के अधीन भी हो सकता है। यह सर्वथा पृथक् प्रश्न है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हिन्दू समाज ही यह कार्य क्यों करे? और फिर अकेला ही यह इतना बड़ा कार्य कर भी किस प्रकार पायेगा?

हम समझते हैं कि जिसका आधार बुद्धि है, उस समाज को ही इस दिशा में नेतृत्व करना चाहिए। हमें सब समाज के विद्वानों का संगठन बनाने का यत्न करना चाहिए। जैसे राज्यों ने मिलकर एक संयुक्त राज्य संघ बनाने का यत्न किया है। इससे पूर्व लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की गई थी। किन्तु ये दोनों ही कार्य सम्पन्न नहीं हो सके। लीग ऑफ नेशन्स तो हिटलर की बूट की ठोकर से चूर-चूर हो गई थी। संयुक्त राष्ट्र संघ की गति भी अब दुर्बल-क्षीण होने लगी है। इस दुर्बलता का कारण हम यह समझते हैं कि यह राजसी स्वभाव वालों के अधीन है। राजसी बुद्धि वालों का चलन अधर्म का अर्थात् कर्म और अकर्म का ध्यान रखकर नहीं होता। इस कारण यह संगठन किसी भी समय भंग हो सकता है।

हम विद्वानों का संगठन चाहते हैं और इसके निर्माण में हिन्दू समाज को नेतृत्व करना चाहिए। हिन्दू समाज बुद्धि को मुख्य मानता है। कम-से-कम इसके धर्मशास्त्र बुद्धि को सर्वोपरि मानते हैं। अतः हिन्दू समाज को चाहिए कि वह विद्वानों की प्रतिष्ठा स्थापित करने में पहल करे।

यह तभी सम्भव है जबकि वह पहले अपने विद्वानों को सर्वोपरि स्थान पर स्थापित करे।

राजसी प्रवृत्ति के धूर्त लोगों ने यह किंवदन्ति चालू कर रखी है कि विद्वानों को किसी प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान तो होता नहीं है, इस कारण वे कार्य करने में असफल रहते हैं। किन्तु यह सब निर्मूल है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि धूर्त स्वयं ही विद्वानों की विद्वत्ता का मापदण्ड नियत करते हैं। स्वयं ही उनका निर्वाचन करते हैं और फिर उनके असफल होने पर स्वयं ही विद्वत्ता की निन्दा करते हैं अर्थात् उनको अव्यावहारिक घोषित कर देते हैं।

किन्तु जिस प्रकार हम बता रहे हैं क्या उस प्रकार हो पाना सम्भव है? आज के समाज में जब मानव समाज के सब प्रकार के सामर्थ्य पर धूर्त लोगों ने अधिकार जमाया हुआ है और ऐसे साधन निर्माण कर लिये हैं कि वे साधन धूर्त और बलवानों को प्राप्त हो जायें तब यह असम्भव प्रतीत होने लगता है। इस दिशा में प्रथम पग यह है कि विद्वान् की परिभाषा निर्माण की जाय। भगवद्गीता ने इस विषय में यत्न किया है। वहाँ बुद्धि की महिमा का वर्णन किया है। वहाँ कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बुद्धि तीन प्रकार की है—सात्विक, राजसी और तामसी।"

गीता में सात्विक बुद्धि को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी।। भ० गी० १८-३०।।

अर्थात् जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के भेद को समझती है जो करणीय और अकरणीय में भेद कर सकती है, जो इस बात को समझती है कि किससे डरना चाहिए और किससे नहीं डरना चाहिए, कौन-सी वस्तु बन्धन में डालती है और कौन-सी छुड़ा देती है, वह बुद्धि सात्विकी है।

सात्विकी बुद्धि के लोग विद्वान् कहे जाते हैं। और उनका प्रभुत्व समाज में स्थापित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह किस प्रकार सम्भव है, इस ओर ही प्रथम प्रयास है समाज के उत्थान का।

: २ :

विद्वानों की खोज

समाज के प्रत्येक घटक के मन में यह धारणा निर्माण करना कि विद्वान् की मान-प्रतिष्ठा सर्वोपरि हो, यह प्रथम पग है। इसका वर्णन मनुस्मृति में भी किया गया है जो इस प्रकार है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परोधर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः।।

मनु १२-११३।।

एक भी वेद को जानने वाला द्विजों में श्रेष्ठ जो कहे वह मानो और सहस्रों अविद्वान् भी जिसको कहें वह मत मानो।

सबसे पहले तो यह बात ही प्रत्येक हिन्दू के मन में बैठा देनी चाहिए।

दूसरा पग यह होगा कि विद्वान् वेद का ज्ञाता कौन होगा। इसके लिए तो वर्तमान शिक्षा पद्धति में ही आमूल-चूल परिवर्तन करना होगा।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि हम तकनीकी विद्या अर्थात् टैक्नोलॉजी की बात नहीं कर रहे हैं। हम मूल ज्ञान की बात कर रहे हैं। सत्य ज्ञान की शिक्षा तकनीकी ज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ होनी चाहिए। वह सत्य ज्ञान की बात क्या है? वह हमने मूल ज्ञान अर्थात् फण्डामेण्टल साइंस के नाम से कही है। हमारे शास्त्रों और वेद में इसको भलीभाँति वर्णित किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिं।

(बृ० उ० ५-५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् पहले आपः ही था। आपः एटम पार्टीकल्स को कहते हैं। उस आपः ने सत्व की रचना की। अतः सत्व ब्रह्म है। तीन अक्षरों को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्मन प्रजापति को। प्रजापति ने देवताओं को उत्पन्न किया। मरुद् गण सत्य की ही उपासना करते हैं।

अर्थात् यह सब कार्यजगत् सत्य है। देवता, सूर्य, चन्द्र आदि इसी की रक्षा करते हैं।

यह सत्य की व्याख्या है। इसका अर्थ है कि सत्य को समझने के लिए सृष्टि की रचना को समझना चाहिए। सृष्टि रचना तीन अक्षरों से बनी है।

एक अन्य उपनिषद् में तो इससे भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता।।श्वे० १-७।।

अर्थात् ऊपर बताये को परम कहते हैं। उसमें तीन अक्षर प्रतिष्ठित हैं। हमारा कहने का अभिप्राय है कि सत्य यह जगत् है। इसका ज्ञान सत्य का ज्ञान है और इस ज्ञान को रखने वाले विद्वान कहे जाते हैं।

अतः जब हम मूल ज्ञान (फण्डामेंटल साइंस) की बात कहते हैं तो इन तीन अक्षरों के ज्ञान की बात कहते हैं। इस ज्ञान को रखने वाले और भगवद्गीता के अनुसार बताई गई सात्विकी बुद्धि को रखने वाले को विद्वान् कहते हैं।

समाज में ऐसे विद्वानों को निर्माण करने की शिक्षा को ही शिक्षा कहते हैं। और ऐसी शिक्षा प्राप्त एक भी विद्वान् सहस्रों अनपढ़ों से श्रेष्ठ है, ऐसा हम मानते हैं। इस प्रकार के विद्वान निर्माण करना ही समाज का परम कर्तव्य है।

: ३ :

ऐसे विद्वान् जिनका बहुत ही सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट स्वरूप हमने ऊपर वर्णन किया है, वर्तमान शिक्षा पद्धति में निर्माण नहीं हो रहे हैं। उपनिषद् में वर्णित शिक्षा के अनुसार यह सत्य की शिक्षा नहीं है। यही वर्तमान दुर्व्यवस्था का कारण है। वहाँ कहा है कि सृष्टि रचना के पूर्व आपः था। सत्व के विस्तार होने पर जो है सत्य है। यह पूर्व और पश्चात् विनष्ट नहीं हो सकता। यह रहता है। परन्तु मध्य में जो स्वभाव बनता है, वह असत्य अर्थात् नाशवान् है।

वर्तमान शिक्षा उसी मध्य की शिक्षा को शिक्षा मानती है। अर्थात् वह वर्तमान जगत् के निर्मित पदार्थों की शिक्षा को शिक्षा कहती है। आदि मूल और बीच के नष्ट हो जाने पर जो पुनः मूल रह जाता है उसके विषय में वर्तमान शिक्षा पद्धति शून्य है। इसी कारण हम उस शिक्षा को अनृत (असत्य) की शिक्षा कहते हैं। इसी कारण यह जगत् मूर्खों को अपना गुरु मान उनके पीछे चलता हुआ दुःख-क्लेश और नाश को प्राप्त हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह कहा जाए कि हम वर्तमान शिक्षा प्राप्त जनों को विद्वान् मानकर अविद्या के पीछे चल रहे हैं, अर्थात् हम अविद्वानों के मार्ग को ग्रहण कर रहे हैं तो ठीक होगा।

अतः वास्तविक अर्थों में विद्वानों की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए शिक्षा के अर्थ को बदलना होगा। इसके लिए शिक्षा संयंत्र को राज्य के हाथ से निकालकर विद्वानों के हाथ में देना होगा और उनके द्वारा शिक्षा पद्धति को बदलना होगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि आदि और अन्त अर्थात् तीन अक्षरों की शिक्षा के अतिरिक्त मध्य वाली (रचना जगत् की) शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

रचित जगत् की शिक्षा ही तकनीकी शिक्षा है। हम उसका विरोध नहीं करते। मध्य की स्थिति का बिना पूर्व और अन्त की स्थिति को जाने केवल अन्तिम की ही शिक्षा रह जायेगी। अद्वैतवादी हिन्दू यही कह रहे हैं। इसीकी महिमा है। यह रचित् जगत जिन मूल पदार्थों से बना है उसको बताना ही चाहिए। मूल और शाखाओं दोनों की शिक्षा होनी चाहिए। वही कल्याण का सूचक होती है।

मूल की अर्थात् रचना-पूर्व और रचना के विलीन होने पर जो कुछ है उसको छोडकर मध्य में रचित जगत् की शिक्षा न केवल अधूरी है अपितु मिथ्या भी है। वेद में इस भाव को भलीभाँति प्रकट किया गया है। वहाँ कहा है :

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते ।। य० ४०-१४ ।।

अर्थात् विद्या (सदा विद्यमान रहने वाले तत्त्वों की शिक्षा) और अविद्या (नाशवान पदार्थों की शिक्षा) साथ-साथ दोनों ही होनी चाहिए।

अविद्या से इस मरणशील जगत् को पार किया जा सकता है और विद्या से अमृत (सदा आनन्द) की प्राप्ति होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि इस कार्य-जगत् की शिक्षा के साथ-साथ इसके मूल तत्त्व की शिक्षा भी होनी चाहिए। जिसके प्राप्त होने से ही मनुष्य विद्वान् कहाता है।

इस विद्या के साथ-साथ सात्विकी बुद्धि की प्राप्ति भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। यह विद्वानों की खोज अर्थात् विद्वान् प्राप्त करने का साधन है। यह कार्य राज्य नहीं कर सकता। कदाचित वर्तमान राज्य की गतिविधियों की, विद्वानों से स्वीकृति नहीं हो सकती।

हो भी कैसे सकती है ? जिस राज्य के संचालकों को चुनने में एक सर्वोच्च विद्वान् और एक मूर्ख गँवार के मत का मूल्य समान हो, वह किस विद्वान् द्वारा स्वीकार की जायेगी ? ऐसे मूर्खों से निर्मित राज्य के अधीन विद्यालय और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय विद्वान् निर्माण नहीं कर सकते। इस कारण ही हमारा यह घोष है कि राजा वह चाहे कोई भी क्यों न हो, शिक्षा पर नियन्त्रण रखने के योग्य नहीं है।

हम तकनीकी शिक्षा का विरोध नहीं कर रहे हैं। हिन्दुओं की सर्वमान्य पुस्तक वेद में भी इसको अस्वीकार नहीं किया गया है। हम जिस बात पर बल दे रहे हैं वह यह है कि तकनीकी शिक्षा अधूरी है और पूर्ण शिक्षा के लिए शिक्षा को राजसी व्यवहार वालों के अधीन नहीं रहने देना चाहिए।

हमने सुझाव दिया है कि मूल शिक्षा राज्य से पृथक् कर दी जाय। उसे सत्य ज्ञान रखने वाले अध्यापकों और प्रबन्धकों के अधीन कर देना चाहिए। तकनीकी शिक्षा जो कार्य जगत् की शिक्षा है, भले ही वह सरकार के अधीन हो अथवा धनीमानी लोगों के।

इसमें एक विषमता उत्पन्न होगी। यदि तकनीकी शिक्षा के विद्यालय सरकारी नियन्त्रण में होंगे और सरकार के हाथ में सब प्रकार के आजीविका के उपाय सीमित कर दिए जायेंगे तो मूल शिक्षा के विद्यालय खाली रह जायेंगे।

इस कारण हमारी योजना है कि शिक्षा पूर्ण रूप से राज्य से मुक्त की जाय और विद्वानों की समितियाँ उनको चलायें। धन वह है जो अपने पास हो। जिसका प्रयोग किया जा सके। पढ़े-लिखों को काम वह दे जिसने जातीय कामों पर नियन्त्रण किया हुआ है।

यह कैसे होगा? इसके लिए हमारी पुस्तक 'राष्ट्र, राज्य और संविधान' पढ़नी चाहिए।

पुस्तक के इन खण्डों में हमने यह बताया है:

१. हिन्दू एक समाज है, मत-मतान्तर नहीं। इसमें अनेक मत हैं किन्तु सबकी मान्यतायें प्रायः समान ही हैं।
२. ये मान्यतायें बौद्धिक हैं, सार्वभौमिक हैं। इनको मानने वाले इनकी पूर्णता की ओर यत्न करते दिखायी देते हैं।
३. मान्यताओं का उल्लंघन समाज में हीन होना है। और उनका पालन करने वाले समाज में प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाने चाहिए।
४. मान्यताओं की रक्षा ही समाज की रक्षा है।
५. इन मान्यताओं के विलुप्त होने का भय सबसे अधिक समाज के घटकों से है। इस कारण समाज के घटकों को इनसे अवगत रखना चाहिये और उनको इसकी प्रेरणा देनी चाहिये कि वे इनको मानें। इसी में उनका कल्याण है।
६. यह राज्य से पृथक् रहकर समाज के विद्वानों के करने का है।
७. ऐसा करने के लिए तीर्थस्थानों पर कथा, कीर्तन, उपदेश, व्याख्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि के आयोजन किये जाने चाहिये।

८. इसका अभिप्राय यह है कि हिन्दू समाज के मत-मतान्तरों की स्थायी समिति का निर्माण किया जाय और वहाँ पर पौराणिक कथाओं तथा उपनिषदों की कथाओं, भगवद्गीता के प्रवचन इत्यादि का प्रचलन होना चाहिए।

९. हिन्दू मान्यताओं पर तर्कसिद्ध ग्रन्थों का निर्माण और फिर उन ग्रन्थों का प्रचार होना चाहिए।

१०. मान्यताओं पर आचरण के लिए प्रेरणात्मक साहित्य निर्माण का प्रबन्ध होना चाहिए।

११. जातीय पर्व जिनका जाति की मान्यताओं से, जाति के इतिहास से और जाति के महापुरुषों से सम्बन्ध हो उसका निश्चय कर उनको मनाने का विधान होना चाहिए।

१२. जाति के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध जाति के विद्वानों के हाथ में होना चाहिए। शिक्षा को राजकीय दासता से विमुक्त करना चाहिए।

१३. इसके लिए मूल शिक्षा का आधारभूत ज्ञान, फण्डामेंटल साइंस की शिक्षा को, कला-कौशल की शिक्षा पर वरीयता होनी चाहिए। इसके लिए शास्त्रीय शब्द है विद्या और कला-कौशल की शिक्षा (तकनीकी शिक्षा) चलनी तो साथ ही चाहिए पर मूल पदार्थों की शिक्षा को वरीयता का अभिप्राय है कि वह पूर्ण शिक्षा क्षेत्र में और पूर्ण शिक्षा काल में व्यापक रहनी चाहिए। यह राजकीय नियन्त्रण और प्रबन्ध से मुक्त भी होनी चाहिए। कला-कौशल की शिक्षा में राज्य तथा समाज के धनीमानी हस्तक्षेप कर सकते हैं। परन्तु आधारभूत शिक्षा सेतो राजनीतिक प्रपंच सर्वथा स्वतन्त्र केवल प्रतिष्ठित, परीक्षित विद्वानों के हाथ में होनी चाहिए।

१४. शिक्षा केन्द्र पूर्णतया विद्वानों के संरक्षण में होने चाहिए। उनके पाठ्यक्रम विद्वत् परिषदों द्वारा बनाये जाने चाहिए। कला-कौशल की शिक्षा का पाठ्यक्रम समाज के धनी वर्ग अथवा राजकीय अधिकारी बना सकते हैं।

१५. पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न अधिकारियों द्वारा बनाये जाने का अभिप्राय यह है कि शिक्षा के दोनों अंगों का समाज में भिन्न-भिन्न दिशाओं में उपयोग है।

आधारभूत ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा मनुष्य की इन्द्रियों, मन, बुद्धि को शिक्षित कर जीवात्मा पर श्रेष्ठ संस्कारों के निर्माण करने वाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। और कला-कौशल की शिक्षा संसार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में सहायक होती है।

१६. आधारभूत ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को भी जाति अथवा जातियों के विद्वानों के नियन्त्रण में रखने के लिए हिन्दू समाज का निरन्तर प्रयत्न होना चाहिए। यह सार्वभौमिक प्रश्न है। इसपर भी हिन्दू समाज एक सार्वभौमिक प्रपंच के नाते इसे अपने पूर्ण बल, ज्ञान-विज्ञान के आधार की उपलब्धियों पर विद्वानों के नियन्त्रण में लाने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

१७. समाज का बाहरी लक्षण घटकों का नाम ही है। प्रत्येक हिन्दू का नाम समाज के महापुरुषों, ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं सांस्कृतिक आचरण के साथ सम्बन्ध रखने वाले शब्दों में होना चाहिए।

१८. बोल-चाल की भाषा देश की होनी चाहिए, तदपि समाज की भी कोई भाषा होनी चाहिए, जो समाज के ऐतिहासिक और धार्मिक मंचों की भाषा हो।

१९. हिन्दू समाज ऐतिहासिक परिस्थितियों में देश में दूसरे समाजों के साथ कैसे रहे, यह विषय उक्त सब व्यवहारों के रहते हुए हो सकता है। उसके लिए देश में राज्य की स्थापना है। राज्य और हिन्दू समाज का सम्बन्ध कैसा हो, यह पुस्तक के अगले खण्ड का विषय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय खण्ड

प्रथम परिच्छेद

: १ :

हिन्दू समाज एवं राज्य

जब समाज का आधार मान्यतायें होगा तो मानव समाज में एक से अधिक समाजों का होना स्वाभाविक है। मान्यताओं का सम्बन्ध बुद्धि और जीवात्मा से है। जीवात्मा संस्कारों से काम करता है और सब मनुष्यों की बुद्धि समान नहीं होती। इस कारण एक देश में भी एक से अधिक समाज होने की सम्भावना सदा रहती है।

जहाँ मान्यतायें श्रद्धा और भक्ति की आधारशिला पर निर्मित होती हैं वहाँ बड़े-बड़े समाज बनना स्वाभाविक है। परन्तु देखा यह जाता है कि वैसे समाजों में भेड़ चाल होने के कारण वे समाज, मानव समाज होते हुए भी शनैः शनैः पशु समाज का रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिए हमने मान्यताओं का आधार बौद्धिक माना है, जिससे कि समाज भेड़ों का समूह न बनकर मानव समाज बना रहे। तदपि विशाल समाज होने के कारण इसकी सम्भावना तो बनी ही रहती है।

भारत में हिन्दू समाज बहुत बड़ा समाज है। किन्तु यहाँ अन्यान्य समाज भी हैं, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दू समाज का आधार बौद्धिक होने के कारण यद्यपि इसका अन्य समाजों से विरोध होने की सम्भावना बहुत कम है तदपि मानव स्वभावानुकूल किंचित् भी विरोध न हो यह सम्भव नहीं है। वह विरोध हमारे देश में दिखायी देता है। उस विरोध के कारण ही 'स्व अस्तित्व की रक्षा' का प्रश्न उपस्थित हुआ है। इस कारण इस विरोध की स्थिति में समाधान की आवश्यकता है। इसके लिए देश में राज्य की स्थापना की आवश्यकता अनुभव होती है।

प्राचीन इतिहास में ऐसा वर्णन मिलता है कि उस युग में न कोई देश का राजा था और न ही किसी प्रकार राज्य था। सब लोग परस्पर सहचारिता से रहते थे। परन्तु कालान्तर में मानसिक विकारों के कारण तथा जनसंख्या बढ़ जाने से जब छीना-झपटी आरम्भ हुई तो देश में शान्ति स्थापित करने के लिए राज्य और धर्म व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए धर्म व्यवस्था पर विचार किया गया और उसको चालू करने के लिए राज्य और राजा की नियुक्ति की गई। कुछ काल तक तो यह कार्य ठीक प्रकार चला, किन्तु शक्ति और अधिकार का केन्द्र होने के कारण राज्य में विकार उत्पन्न होने लगा।

तब यह आवश्यक समझा गया कि राज्य की सीमायें निर्धारित कर दी जायें। समय बीतते-बीतते इन सीमाओं को संविधान की संज्ञा दी जाने लगी। राज्य के अधिकार की सीमा निर्धारित की गई और राज्य को उस सीमा के भीतर रखने के लिए विधि-विधान बनाये गए। इस प्रकार यह राज्य का संविधान कहलाया।

दूसरे शब्दों में देश का संविधान उस देश के राज्य प्रशासन की सीमायें निर्धारित करता था।

एक ऐसे समाज वाले देश में जहाँ समाज बौद्धिक मान्यताओं पर आधारित हो वहाँ संविधान की आवश्यकता है। और फिर उस संविधान के अधीन राज्य की भी आवश्यकता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि भारत का हिन्दू समाज ऐसा है कि यहाँ राज्य की आवश्यकता है। और फिर उस राज्य के कर्तव्यक्षेत्र में और समाज के अधिकार और कर्तव्य के क्षेत्र में एक प्रकार की सीमा रेखा की भी नितान्त आवश्यकता है।

अन्यथा समाज की बौद्धिक मान्यताओं के होने के कारण देश में व्यापक रूप में अव्यवस्था होने की अत्यधिक सम्भावना है। अतएव, देश में राज्य तथा समाज में किसी सीमा का निर्धारित किया जाना परमावश्यक है। इसका अभिप्राय है कि देश में संविधान की अत्यधिक आवश्यकता है।

वर्तमान भारत में एक संविधान प्रचलित है। किन्तु वह प्रजातान्त्रिक और समाजवादी संविधान होने के कारण बौद्धिक समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। प्रजातान्त्रिक संविधान में, विशेषतया भारतीय प्रजातान्त्रिक संविधान में, प्रजा के अधिकारों की कोई सीमा ही नहीं रह गई है। प्रजा के अधिकार राज्य मुखरित करता है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि राज्य के अधिकारों की कोई सीमा ही नहीं रही।

भारतीय संविधान में कुछ भी तो ऐसा नहीं है कि जिसे आधारभूत कहा जा सके। जो संविधान सन् १९५० में पारित किया गया था, उसमें व्यक्ति के कुछ आधारभूत अधिकार निर्धारित किये गये थे। और संविधान की धारा १२, १३ के अनुसार उन को बदला नहीं जा सकता था। किन्तु अब तो वे भी बदले जा चुके हैं। उन धाराओं को इस प्रकार विकृत कर दिया गया है कि बड़ी सुगमता से अब उनको बदला जा सकता है। कहा जा सकता है कि समाज और राज्य के अधिकारों में विभेद की कोई सीमा रेखा नहीं रही।

हम समझते हैं कि दोनों में सीमा का निर्धारण होना ही चाहिए। अन्यथा फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू समाज का बौद्धिक रूप रह ही नहीं सकेगा। देश में विद्यमान अराजकता और अव्यवस्था इसका प्रमाण है। किसी भी दिन का कोई भी समाचार-पत्र उठाकर देख लिया जाय, देश में व्याप्त अधर्माचरण का प्रमाण उसमें विद्यमान होगा। चोरी, डाका, हत्या, साम्प्रदायिक दंगे, महिलाओं का अपहरण अथवा उनके साथ बलात्कार आदि-आदि समाचार प्रचुर मात्रा में पढ़ने को मिल जायेंगे।

इन सबका हम एक ही मौलिक कारण मानते हैं और वह कारण है राज्य प्रशासन द्वारा असीमित अधिकारों की प्राप्ति। राज्य प्रजा के बहुमत से स्थापित होता है और भारत की प्रजा इस समय नितान्त अनियन्त्रित है। तब वह राज्य किस प्रकार स्वच्छ प्रशासन प्रदान कर पायेगा ?

हम इस राज्य को बौद्धिक राज्य नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि यहाँ ज्ञान और बुद्धि की महिमा नहीं, अपितु बहुमत की महिमा है। यह हिन्दू समाज के मौलिक सिद्धान्त के विपरीत है। हिन्दू समाज तो बौद्धिक समाज है। किन्तु जहाँ साधारण झल्ली ढोने वाले और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के मत का समान मूल्य हो वहाँ बौद्धिकता को स्थान कहाँ मिल सकता है ? वर्तमान प्रजातन्त्र इसपर ही पलता-पनपता है।

किसी भी समाज में साधारण जनों की अपेक्षा विद्वानों की संख्या कम हुआ करती है। और जहाँ बहुमत की बात होगी वहाँ स्वाभाविक ही अल्पज्ञों का ही बहुमत होगा।

केवल ज्ञान की ही बात नहीं है, मानसिक विकास की बात भी है। मन कामनाओं का उद्गम स्थल होता है। कामनाओं पर बुद्धि का नियन्त्रण होता है। सामान्य जन इन कामनाओं से प्रेरित होकर ही अपना मतदान करता है और फिर उसका जो परिणाम होता है वह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। भारतीय संसद् की सदस्यता प्राप्त करने के लिए प्रत्याशियों को लाखों रुपये व्यय करने पड़ते हैं। तब कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि उन लाखों व्यय किये धन में से अधिकांश तो काला धन ही होता है, वह व्यय ही इसी प्रकार के काले मार्गों पर किया जाता है।

तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार काले धन से प्राप्त संसद् की सदस्यता फिर किस प्रकार उज्ज्वल रह सकती है। कभी, कहीं अन्तुले जैसे एक-दो व्यक्तियों के पकड़े जाने से इस प्रकार का अधर्माचरण समाप्त नहीं हो सकता। चोरों के समाज में उन चोरों ने किसी एक चोर को पकड़ लिया तो उससे शेष सब पवित्र हुआ नहीं माना जा सकता।

प्रजा के भी कुछ अधिकार होते हैं। किन्तु वे अधिकार समान नहीं हो सकते। समाज के प्रत्येक घटक के अधिकार की बात स्वीकार करते हुए भी हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि चोर और न्यायाधीश के अधिकार समान हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारों का आधार योग्यता होनी चाहिए। क्योंकि योग्यता में सब समान नहीं होते इसलिए सबके अधिकार भी समान नहीं हो सकते।

अधिक मत प्राप्त करने वाला भी अधिक अधिकार का अधिकारी हो, यह बात भी स्वीकार करने योग्य नहीं मानी जा सकती। अधिकार का आधार योग्यता है और योग्यता मन, बुद्धि और शरीर की सामर्थ्य का नाम है न कि जनता का मत प्राप्त करने का नाम। योग्यता की परख भी योग्य लोग ही कर सकते हैं, न कि विषयोपभोग में रत सामान्य जन।

यही कारण है कि वर्तमान में प्रचलित प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को हम अव्यावहारिक एवं अयुक्त व्यवस्था मानते हैं। तदपि प्रजा अधिकार शून्य है, हम यह मानने के लिए भी उद्यत नहीं हैं। किन्तु हमारा यही कहना है कि सबको अपनी-अपनी योग्यता के आधार पर ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

इस विषय में हमने अपनी पुस्तक 'राष्ट्र, राज्य और संविधान' में एक व्यवस्था का उल्लेख किया है। यहाँ तो हमारा अभिप्राय केवल इतने मात्र से है कि समाज और राज्य के अधिकारों में किसी सीमा का निर्धारण अवश्य किया जाना चाहिए।

राज्य और समाज के घटक के अधिकारों के मध्य कौन-सी सीमा रेखा हो, हमारा मत है कि इसका उल्लेख संविधान में होना चाहिए। किन्तु हमारा यह सुविचारित मत है कि शासनकर्ता स्वयं ही व्यवस्था देने वाला नहीं होना चाहिए। शासक राज्य नियम का निर्माता नहीं होना चाहिए। इस प्रकार संसद् या तो राज्य कर सकती है अथवा संविधान का निर्माण कर सकती है। दोनों कार्य वह नहीं कर सकती। उसे एक कार्य करना होगा। इसी प्रकार किसी देश में मन्त्रिमण्डल यदि प्रबन्ध समिति है तो उसको विधि-विधान की निर्मात्री संस्था नहीं माना जाना चाहिए।

विधि-विधान के निर्माण का अधिकार प्रजा को अवश्य है; किन्तु प्रजा के केवल उसी अंश को जो धर्म के तत्त्व को जानता है। इसका अर्थ यह है कि विधि-विधान न तो प्रजा के सर्वमत का आकांक्षी है, न ही प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति विधि विभाग की आलोचना का अधिकारी ही है। उसे सुनने और समझने का अधिकार तो है परन्तु उसको किसी प्रकार का मत देने का अधिकार नहीं होना चाहिए और न ही उसको विधि निर्माताओं को नियुक्त करने का अधिकार ही होना चाहिए।

जिस प्रकार शिक्षा राज्य का विषय नहीं है उसी प्रकार अथवा उससे भी कुछ अधिक ही धर्म-व्यवस्था देना भी राज्य का अधिकार नहीं है।

धर्म-व्यवस्था का समाज की व्यवस्था से घना सम्बन्ध है। इस कारण हम समझते हैं कि समाज और और राज्य में धर्म-व्यवस्था निर्माण करने वालों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथक् सीमा रेखा है। हिन्दू समाज में स्मृतिकार राजा नहीं होते थे। उन्हें होना भी नहीं चाहिए। सामान्य जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति धर्म का ज्ञाता भी होगा, यह सन्देहास्पद ही है।

नगरकोतवाल नगर का कानून बनाने वाला नहीं हो सकता। जहाँ यह होता है वहाँ अधर्माचरण ही फलता-फूलता है। यही बात हमने हिन्दू समाज के लिए करणीय कही है।

यहाँ हम उन करणीय कर्तव्यों का वर्णन कर रहे हैं जिनके लिए व्यक्ति को राज्य से सम्पर्क बनाना पड़ता है। राज्य और समाज के मध्य का प्रबन्ध अकेला समाज के करने का नहीं है। दोनों के सहयोग से ही यह सम्भव हो सकेगा। समाज विधि विशेषज्ञ निर्माण करने का प्रबन्ध करेगा। राज्य को उन विधि-विधान के निर्माताओं द्वारा निर्मित विधान को मानना होगा।

: २ :

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

समाज को राज्य के सहयोग द्वारा जो अन्य कार्य करणीय है वह है न्यायपालिका की स्वतन्त्रता। भारत में वर्तमान में तो यह स्थिति है कि प्रथम स्तर के न्यायकर्ता तो सर्वथा राज्य के अधीन हैं। उनकी नियुक्ति, उन्नति और स्थानान्तरण यह सब पूर्णतया गृहमन्त्रालय के अधीन होता है। उच्च स्तर के न्यायाधीश भी राज्य की अभिरुचि के बिना नियुक्त नहीं किये जा सकते और न ही वे अपने पद पर स्वेच्छा से स्थिर ही रह सकते हैं। इस स्तर के न्यायाधीशों का स्थानान्तरण भी राज्य की रुचि के आधार पर ही होता है। इनको मिलने वाला वेतन, भत्ता और उन्नति बिना राज्य की अभिरुचि के नहीं हो सकता।

भारतीय संविधान में उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति से सम्बन्धित एक प्रावधान है कि इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश से परामर्श कर लिया जाय। किन्तु अब इस विषय पर भी शासन और न्यायपालिका के मध्य खींचातानी होने लगी है। शासन अब धीरे-धीरे इस किंचिन्मात्र सुविधा पर भी अधिकार जमाने का यत्न करने लगा है।

यह शुभ लक्षण नहीं है। जबकि शासन व्यवस्था दिनानुदिन जटिल होती जा रही है तब ऐसे समय में न्यायपालिका इसके प्रशासन से सर्वथा विमुक्त रखी जानी चाहिए।

देश और समाज में न्याय-व्यवस्था सब बन्धनों से स्वतन्त्र हो और वह धीमान्, ज्ञानवान् और आसक्तिरहित व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिए।

जब भारत परतन्त्र था तो उस समय जो स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन चल रहा था, स्वतन्त्रता का यह अर्थ भी माना जाता था कि देश की न्यायपालिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र होनी चाहिए।

ब्रिटिशकाल में हम लोग जो स्वराज्य की आकांक्षा रखते थे और इस दिशा में देश की प्रगति को बड़ी सूक्ष्मता से देख रहे थे, स्वराज्य की उपलब्धि में न्यायपालिका के राज्य से स्वतन्त्र होने को स्वराज्य का एक महान् गुण मानते थे।

किन्तु इस समय देश में न्याय प्रपंच की जो दुर्दशा हो रही है उसे देखकर जो निराशा का संचार हुआ वह अकथनीय है।

हमें भी एक छोटे से अभियोग का अनुभव हुआ है। हमारी एक छोटी-सी पुस्तक पर किसी अन्य लेखक ने यह दावा कर दिया कि हमने उसकी पुस्तक के नाम की नकल कर उसको हानि पहुँचाई है।

हम समझते थे कि यह विषय प्रथम पेशी में ही एक-दो घंटे के विचार-विनिमय में समाप्त हो जाना चाहिए था। पुस्तक के नाम के 'कापी राइट' का अभी तक कोई प्रावधान नहीं है। और जिस व्यक्ति ने हम पर दावा किया था स्वतः उसकी पुस्तक का नाम किसी अन्य की पुस्तक के नाम की नकल था। और फिर दोनों पुस्तकों की विषयवस्तु में तो किंचिन्मात्र भी कहीं समानता नहीं थी। इतना होने पर भी इस अभियोग का निर्णय होने में सात वर्ष का समय लगा था।

इतना ही नहीं, साधारणतया दस से बीस वर्ष तक अभियोगों के निर्णय में लगने लगे हैं और उसके बाद भी यदि कोई व्यक्ति समझे कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ है तो वह पुनरावलोकन की याचिका प्रस्तुत कर सकता है।

हम समझते हैं कि इस दुर्व्यवस्था का कारण देश के विधि विभाग और न्यायपालिका का राज्याधीन होना ही है। इस प्रकार जब विलम्ब हो जाता है तो वह न्याय भी नहीं होता। हमसे सम्बन्धित अभियोग में चार पक्ष थे। दो लेखक, एक प्रकाशक और एक मुद्रक। हम समझते हैं कि इस प्रसंग में प्रकाशक और मुद्रक किसी भाँति भी उत्तरदायी नहीं माने जा सकते थे। परन्तु उन दोनों को भी अपनी बात स्पष्ट करने के लिए दो पृथक्-पृथक् वकीलों को नियोजित करना पड़ा।

लेखक पर अनुचित लाभ उठाने का आरोप था। इस छोटे से अभियोग पर उसका लगभग आठ-नौ हजार रुपया व्यय हुआ था। अनुमान यह है कि प्रकाशक और मुद्रक का भी न्यूनाधिक इतना ही व्यय हुआ होगा।

यह दुर्व्यवस्था केवल इस कारण है कि कानून बनाने वाला और उसका वितरण करने वाला राज्याधीन है। राज्य न तो इन दोनों कार्यों की योग्यता रखता है और न ही उसको इसके लिए अवकाश है।

हमारा यह निश्चित मत है कि शिक्षा और विधि निर्माणकार्य राज्य नहीं कर सकता और न उसमें विधि वितरण की ही किसी प्रकार की योग्यता है।

हमने ऊपर जो अपने पर किए गये अभियोग का उल्लेख किया है उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य का अपना कुछ भी लेना-देना नहीं था। जिन विषयों में राज्य स्वयं रुचि रखता है उनमें तो न्याय की आशा रखनी ही नहीं चाहिए फिर ठीक समय की तो बात ही दूर है।

हम यह जानते हैं कि सब प्रकार की बाधाओं के होने पर भी देश की सर्वोच्च न्यायपीठ कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता का प्रदर्शन कर ही रही है। तदपि ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जब कभी न्यायपीठ का निर्णय राज्याधिकारियों की अभि-रुचि के अनुसार नहीं होता तो न्यायपीठ को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके साथ ही न्यायालय का निर्णय राज्याधिकारियों के अनु-सार न होने पर राज्य और विधि-विधान निर्माता एक ही होने के कारण न्याया-लय का निर्णय बदलने के लिए संसद् में नया बिल प्रस्तुत कर दिया जाता है।

इस सबको देखते हुए हमारा यह सुनिश्चित मत है कि देश की न्यायपालिका राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र होनी चाहिए। हिन्दू समाज को इसमें विशेष रुचि होनी चाहिए। उसका कारण यह है कि एक तो देश में हिन्दू समाज ही बहुमत में है और इसका दूसरा कारण यह है कि हिन्दू समाज का पूर्ण प्रपंच न्याय और बुद्धि-युक्त व्यवहार पर आधारित है।

इस श्रेष्ठ और बुद्धियुक्त विधान से हिन्दू समाज का ही सर्वाधिक लाभ होने वाला है।

शिक्षा, विधि-विधान का निर्माण और न्यायाधिकरण, ये तीनों ही ऐसे विभाग हैं, जिनका समाज की सुख और शान्ति से घना सम्बन्ध है। इस कारण यह तीनों विभाग समाज के सर्वोच्च विद्वानों और सच्चरित्र व्यक्तियों के अधीन होने चाहिए।

जिस देश में एक से अधिक समाज हों और फिर उनमें कुछ समाज ऐसे भी हों जिनका आधार बुद्धि नहीं, अपितु कोरी श्रद्धा हो, वहाँ ये तीनों विभाग राज्याधीन होकर कभी भी हितकारी सिद्ध नहीं हो सकते।

: ३ :

राष्ट्रपति की भूमिका

भारत के संविधान में राष्ट्रपति का पद और उसकी स्थिति हास्यास्पद है। जिस प्रकार इंग्लैंड के राज्य परिवार की स्थिति है, ठीक वही स्थिति भारत के राष्ट्रपति की भी है। इंग्लैंड में तो फिर भी राज्य परिवार का कुछ उपयोग हो रहा है। वहाँ का 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' राज्य परिवार का पक्ष है। वह कभी समय आने पर राज्य परिवार का पक्ष ले सकता है। किन्तु भारत के राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल के बाहर क्या महत्त्व अथवा अस्तित्व है, यह कोई न तो जानता है और न ही कोई अन्य बता सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर अपने हस्ताक्षर कर देने के अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति का अन्य कोई कार्य नहीं है।

सन् १६७५ की घटना है। प्रधानमन्त्री देश पर आपात् स्थिति लागू करने की आज्ञा अपने घर से लेकर राष्ट्रपति के पास पहुँचीं। उसने वह आज्ञा-पत्र राष्ट्रपति के सम्मुख रख दिया।

राष्ट्रपति के पास मन्त्रिमण्डल से जो कागजात आते थे उनको बिना देखे ही उन पर अपने हस्ताक्षर करने का उसे अभ्यास था। उसने उस कागज पर भी बिना किसी प्रकार का विचार किये और उसको पढ़े बिना ही अपने अभ्यास के अनुसार हस्ताक्षर कर दिये।

राष्ट्रपति के अन्य कार्यों के अतिरिक्त संविधान की धारा १५२ में राष्ट्रपति से सम्बन्धित उल्लेख है कि 'यदि राष्ट्रपति को इससे सन्तोष हो तो…'।

जहाँ तक उस रात्रि का इतिहास ज्ञात हो सका है, वह यही है कि प्रधान-मन्त्री ने राष्ट्रपति से कुछ कहा और राष्ट्रपति महोदय ने उसको उसी रूप में स्वीकार कर लिया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि संविधान की धारा १५२ के प्रावधान के अनुसार प्रधानमन्त्री का कह देना मात्र ही राष्ट्रपति की सन्तुष्टि का संकेत हो गया।

यहाँ तक कि राष्ट्रपति ने यह भी जानने का यत्न नहीं किया कि जो कुछ प्रधानमन्त्री इस सम्बन्ध में कह रही हैं वह केवल उनका अपना ही कथन है अथवा कि उनको इस सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल का भी समर्थन प्राप्त है।

देश के जिस सर्वोच्च अधिकारी का इतना अधिकार हो और बुद्धि भी केवल इतनी ही हो कि वह स्वयं को प्रधानमन्त्री की रबड़ की मोहर के अतिरिक्त अन्य कुछ न समझे, उसको देश पर थोपने से क्या लाभ हो सकता है, यह विचारणीय प्रश्न है।

हम समझते हैं कि प्रजातान्त्रिक राज्य में राष्ट्रपति की भूमिका बहुत ही महत्त्व की होनी चाहिए। उसको मात्र रबड़ की मोहर नहीं होना चाहिए।

प्रजातन्त्र में बुद्धिमान और बुद्धिविहीन सब प्रकार के जनों द्वारा इसी प्रकार बुद्धिमान और बुद्धिहीनों का निर्वाचन किया जाता है। ऐसे लोगों को नियन्त्रण में रखने की नितान्त आवश्यकता है। यह राष्ट्रपति की भूमिका है।

राष्ट्रपति के क्या अधिकार हों, उसके क्या कर्तव्य हों वह इन सबका पालन किस प्रकार करे, इसका एक संक्षिप्त-सा चित्र हमने अपनी पुस्तक 'राष्ट्र, राज्य और संविधान' में प्रस्तुत किया है। हम यह तो नहीं कहते कि वह सर्वथा त्रुटि-विहीन है अथवा कि उसमें किसी प्रकार का संशोधन किया ही नहीं जा सकता। उसमें हमने जो कुछ भी कहा है उसका अभिप्राय यही है कि लोकतान्त्रिक प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निधियों से संयोजित संसद् पर नियन्त्रण रखने वाला कोई ऐसा व्यक्ति हो जिस पर सभी देशवासियों का विश्वास हो। वह विद्वान् हो, निष्ठावान हो और अनासक्त भाव से कार्य करने वाला हो।

यहाँ पर हम इतना लिख देना भी आवश्यक समझते हैं कि देश भर से ऐसा एक ही प्रतिनिधि होना चाहिए। उसका निर्वाचन दलबन्दी से ऊपर हो। उसके निर्वाचन में कम-से-कम पचास प्रतिशत से अधिक मत उसके पक्ष में होने चाहिए।

तदपि राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह अपनी इच्छानुसार देश में किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर सके। जैसाकि आपात् स्थिति की घोषणा के अवसर पर किया गया था। जब प्रजा द्वारा निर्वाचित विभिन्न समितियाँ परस्पर किसी प्रकार समन्वय न कर पायें तब राष्ट्रपति का कर्तव्य हो कि वह उनमें समन्वय करने का यत्न करे। उसके प्रयत्न से यदि उनमें समन्वय न हो सके तो वह उन समितियों को भंग कर दे और पुनः निर्वाचन का आह्वान कर दे।

किसी प्रकार का मतभेद होने पर राष्ट्रपति अपनी सम्मति और प्रेरणा तो दे सकता है परन्तु विवाद का निर्णय तो प्रजा के बहुमत से ही होना चाहिए।

वर्तमान राष्ट्रपति तो ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता। हम समझते हैं कि वर्तमान राष्ट्रपति तो केवल एक दिखावा मात्र है। लोक-कल्याण के किसी भी कार्य में वह किसी प्रकार का भी योगदान नहीं कर सकता।

संविधान के अनुसार राष्ट्रपति कुछ ही कामों में कुछ कर सकने की स्थिति में होता है। विगत तैंतीस वर्षों में कुछ ऐसे प्रसंग आये भी थे जब प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति में किसी विषय विशेष पर मतभेद उत्पन्न हो सकता था किन्तु वह उत्पन्न नहीं हुआ। उसका कारण यही है कि राष्ट्रपति के कुछ भी तो अधिकार संविधान में वर्णित नहीं हैं। उसका निर्वाचन सर्वथा अयुक्त है।

सन् १९७५ की एक घटना का तो हमने ऊपर वर्णन किया है। संविधान की धारा १५२ के अनुसार राष्ट्रपति अपनी सन्तुष्टि की बात कह सकता था। किन्तु उसने नहीं कही। यदि तत्कालीन राष्ट्रपति धारा १५२ के अनुसार अपनी सन्तुष्टि की बात कर प्रधानमन्त्री की बात पर विचार करने और मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति लेने की बात करता तो क्या होता, यह कह पाना सम्भव नहीं। किन्तु उसने तो इस ओर तनिक भी ध्यान दिया ही नहीं।

विगत तैंतीस वर्ष में राष्ट्रपति यह स्वीकार करते आये हैं कि उनकी स्थिति केवल संवैधानिक है। उनको किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

हम राष्ट्रपति के पद को एक प्राणवान कर्तव्यनिष्ठ संस्थान के रूप में देखना चाहते हैं। भारत जैसे देश में जिसमें एकाधिक समाज निवास करते हों, संविधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मत पद पर एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति की आवश्यकता है जो इन सबमें समन्वय और सन्तुलन कर सके।

भारत में हिन्दू समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिए एक ऐसे अधिकार सम्पन्न पद के निर्माण की आवश्यकता है।

: ४ :

प्रजातान्त्रिक पद्धति

क्या भारत में हिन्दू समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ प्रजातान्त्रिक पद्धति प्रचलित रहे ?

वर्तमान में जो प्रजातन्त्र प्रणाली प्रचलित है वह दोषपूर्ण है। उसमें अनेक छिद्र हैं और उन दोषों और छिद्रों के कारण सम्पूर्ण देश में अव्यवस्था एवं अराजकता का साम्राज्य विस्तार कर रहा है। शासक वर्ग ने भी उन छिद्रों का अनुभव किया है किन्तु उन्होंने उन छिद्रों को अपने विशेषाधिकारों के माध्यम से भरा है।

उदाहरणार्थ विगत पैंतीस वर्ष के शासनकाल में शासकों को देश के संविधान में पचास के लगभग संशोधन करने पड़े हैं। यदि इन संशोधनों का गहनता से अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि इन संशोधनों का मुख राज्य की तानाशाही की ओर ही रहा है। ऐसा कोई भी संशोधन नहीं जिसके विषय में यह कहा जा सके कि उसके माध्यम से प्रजा द्वारा सामूहिक रूप से राज्य को किसी प्रकार का सन्मार्ग दिखाया गया हो।

अतः स्पष्ट है कि वर्तमान संविधान नितान्त त्रुटिपूर्ण है। हमारा यह कहने का कारण यही है कि संविधान में इन सब संशोधनों के होते हुए भी देश की शान्ति-व्यवस्था निरन्तर बिगड़ती जा रही है। साम्प्रदायिक तनाव, व्यक्तिगत कारणों से हत्यायें, चोरियाँ, डाके, बलात्कार, अधिकार युक्त पदों का दुरुपयोग यह सब और इसी प्रकार के अन्य अनैतिक कार्य दिनानुदिन वृद्धि कर रहे हैं।

इस युग की एक अन्य देन यह है कि कुछ ऐसे कानून हैं जो कानून कीं पुस्तकों के पृष्ठ काले कर रहे हैं। विदेशी राज्यकाल में भी ये कानून केवल युद्ध के समय ही लागू किए जा सकते थे। ये कानून हैं 'निवारक नजरबन्दी कानून'। ये सब ब्रिटिश राज की देन हैं। किन्तु उस समय तो इनका प्रयोग युद्ध स्थिति पर ही होता था जबकि स्वतन्त्र भारत में यह साधारण-सी बात बन गया है।

स्वराज्य प्राप्त किए पैंतीस वर्ष बीत गये हैं। किन्तु आज भी सरकार के साथ तनिक से विचार विभेद के लिए 'निवारक नजरबन्दी' कानून जैसे क्रूर कानूनों का निर्बाध प्रयोग कर लिया जाता है। इस कानून का एक रूप सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होने पर प्रकट हुआ था। कुछ रूप बदल कर वही कानून आज भी भारत की दण्ड संहिता के पृष्ठों को सुशोभित कर रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त 'आंसुका' जिसे अंग्रेजी में 'मीसा' कहा गया है, इस नाम से एक नया कानून बनाना पड़ा है इसके आधार पर किसी भी संदिग्ध व्यक्ति को बिना किसी न्यायिक जाँच-पड़ताल के सुदीर्घ अवधि के लिए बन्दीगृह में रखा जा सकता है। ऐसे निवारक नजरबन्दी कानून केवल राजनीतिक विषयों पर ही नहीं वरन् आर्थिक और राज्य प्रवन्ध के विषय पर भी लगाये गये हैं।

हमारा यह मत है कि यह सब दो कारणों से हो रहा है। एक तो हमारी न्यायव्यवस्था दोषपूर्ण है और दूसरे यह कि अनधिकारियों को संविधान द्वारा अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

न्यायाधिकरण के दोषपूर्ण होने के विषय में हम अन्यत्र पृष्ठों पर लिख चुके हैं। यहाँ इसका उल्लेख करने का हमारा इतना ही प्रयोजन है कि हम चाहते हैं कि वर्तमान संविधान राज्य के अधिकारों को कम करके प्रजा के विचार करने, विचार व्यक्त करने, परिश्रम करने और परिश्रम के फल को भोग करने के अधिकार में सुधार किया जाय।

उदाहरण के रूप में सभ्य भाषा में प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तियों, पुस्तकों की विषय वस्तु, मत-मतान्तरों आदि-आदि के विषय में अपना मत व्यक्त करने और स्वयं को गुरु, पीर, पैगम्बर तथा अवतार कहने वालों पर विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

हमारे विचार में जाति के शत्रु सम्बन्धी, देश सम्बन्धी क्रिया-कलाप के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति एवं विषय पर प्रत्येक व्यक्ति को सभ्य भाषा में विचार व्यक्त करने का अधिकार होना चाहिए।

प्रजा को अभी यह अधिकार प्राप्त नहीं है। उसका ही यह परिणाम है कि देश में धूर्त, पाखण्डी, दुराचारी, आचार्य, साधु, महात्मा, पीर, पैगम्बर प्रचलित होकर अपना साम्राज्य जमाये हुए हैं। ये सरल चित्त जनता को अपने विश्वास में लेकर उनको भ्रम में रखकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर रहे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व की बात है कि किसी प्रकाशक ने हजरत मोहम्मद से सम्बन्धित पुस्तक में मोहम्मद का एक चित्र प्रकाशित करवा दिया। मोहम्मद के अन्ध श्रद्धालु अनुयायियों ने उस प्रकाशक का घर ही जलाकर भस्म कर दिया। एक अन्य घटना में किसी चित्रकार ने बालक गुरु नानक का चित्र बनाया तो उसको धमकी दी गई कि उसके इस 'दुष्कृत्य' के लिए उसकी हत्या कर दी जायेगी। उसका कारण यह था कि उस चित्र में जोकि 'बालक गुरु नानक' का था, चित्रकार ने दाढ़ी और केश चित्रित नहीं किये थे।

इसी प्रकार एक उपन्यासकार ने उस काल का ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जब कि गुरुनानक गुरु पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। उनको हरिद्वार में स्नान करते समय तीर्थस्थान के पण्डे द्वारा उनका 'ए लाला' सम्बोधन का उल्लेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया तो लेखक को उसकी हत्या की धमकी दी गई।

इस प्रकार की जो बातें विदेशी शासन काल में भी सम्भव नहीं थीं, वे स्वतन्त्र भारत में घटित होती हैं।

हम सभी समाचार-पत्रों में पढ़ रहे हैं कि निरंकारी बाबा के अनुयायियों की निरन्तर हत्यायें हो रही हैं। निरंकारी गुरु की हत्या के तीन प्रयास किये गये। राज्य के कर्णधारों ने उनमें से किसी भी हत्यारे को आज तक पकड़ा नहीं है। उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि चौथी बार के प्रयत्न में निरंकारी गुरु की हत्या कर ही दी गई। उस हत्या को हुए दो वर्ष से अधिक का समय हो गया है किन्तु अभी तक सरकार यह ज्ञात नहीं कर सकी कि हत्यारा कौन था, उसको पकड़ना तो दूर की बात है।

ऐसा सुना जाता है कि निरंकारी बाबा की हत्या के सम्बन्ध में दिल्ली के उपराज्यपाल ने पंजाब के राज्यपाल को कुछ संदिग्ध नामों की सूची दी थी। उसके आधार पर पंजाब पुलिस उन व्यक्तियों की जाँच करना चाहती है किन्तु वे तथाकथित हत्यारे गुरुद्वारों में जाकर छिप गये हैं।

विस्मय का विषय तो यही है कि यदि यह प्रजातान्त्रिक राज्य है तो यह हिन्दू समाज को क्यों पसन्द है ?

पारिवारिक राजपद्धति की अपेक्षा प्रजातान्त्रिक राज पद्धति श्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु प्रत्येक व्यवस्था की कोई रीति-नीति होती है। उसके कुछ नियम-उपनियम होते हैं। प्रजातान्त्रिक पद्धति का अर्थ बेलगाम राज्य पद्धति नहीं हो सकता। प्रजातान्त्रिक राजपद्धति के यह अर्थ भी नहीं कि लोगों को किसी भी प्रकार के प्रलोभन तथा आश्वासन देकर पाँच वर्ष के लिए गद्दी पर बैठ जाना और फिर मनमानी लूट-खसूट करना।

हम समझते हैं कि प्रजातान्त्रिक राज्य पर भी नियन्त्रण होना चाहिए। स्वतन्त्र न्यायपालिका और स्वतन्त्र शिक्षा प्रबन्ध द्वारा और उनपर अनासक्त भाव से कार्यरत विद्वानों का नियन्त्रण अवश्य होना चाहिए।

राज्याधिकारियों के मुख पर जब तक धर्म की लगाम नहीं होती और उस लगाम पर आसीन विद्वानों का नियन्त्रण नहीं होता तबतक यह प्रजातन्त्र भी राजतन्त्र से अधिक हीन माना जायेगा। राजा के राज में तो एक परिवार के नाज-नखरे होते हैं परन्तु प्रजातन्त्र में तो प्रत्येक सरकारी अधिकारी अपने स्थान पर राजा की भाँति व्यवहार करता है। इनके लिए किसी प्रकार की योग्यता की शर्त नहीं और न ही इनको निर्वाचन करने वालों से किसी प्रकार की योग्यता की अपेक्षा है।

वर्तमान प्रजातान्त्रिक राज्य में, जैसा कि हमने बताया है प्रत्येक सरकारी कर्मचारी नहीं तो कम-से-कम अधिकारी तो राजा है ही, जिन पर किसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अंकुश नहीं है। तो भी ये राजा लोग प्रतिदिन अपने लिए अधिकाधिक अधिकारों की माँग करते रहते हैं।

प्रजातान्त्रिक राज्यपद्धति में एक गुण है। वह यह कि प्रजा को अपने राजाओं की गतिविधियों का समय-समय पर अवलोकन करने का अवसर मिलता रहता है। किन्तु यदि पुनरावलोकन करने वालों की शिक्षा-दीक्षा पर ही राज्य का नियन्त्रण हो तो फिर कोई किसका, किस प्रकार पुनरावलोकन कर पायेगा ?

यही कारण है कि हम प्रजातान्त्रिक राज्य का पूर्णतया समर्थन नहीं कर पाते। हम चाहते हैं कि इस प्रकार के राज्य प्रपंच पर विद्वानों का नियन्त्रण हो। वास्तविक अर्थों में विद्वान् वही है जो अपनी विद्वत्ता को राज्य को न बेचे, अर्थात् वह राज्य का वेतनभोगी न हो। हिन्दू-धर्मशास्त्र में कहा गया है कि जो ब्राह्मण राज्य अथवा राजा का वेतनभोगी हो वह ब्राह्मण पद से पतित होकर शूद्र पद को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उसकी विद्या उसको छोड़ जाया करती है।

यह कार्य भी हिन्दू समाज के ही करने का है। यह ठीक है कि राज्य के संविधान में परिवर्तन दूसरे समुदायों के सहयोग से ही सम्भव है तदपि यदि संसार में मूर्ख किसी शुभ कार्य में किसी भी कारण से बाधक हो तो यह बुद्धिमानों का कार्य है कि वे दूसरे को सन्मार्ग दिखायें। इसमें उनका अपना शुभ और कल्याण है तथा दूसरों का भी है।

'राष्ट्र, राज्य और सविधान' नामक अपनी पुस्तक में हमने अपनी योग्यता के अनुसार इसकी एक योजना लिखी है। हम चाहेंगे कि पाठक उसपर भी विचार करें।

इस परिच्छेद में हमने कतिपय ऐसे कार्यों की ओर संकेत किया है जिनको हम समझते हैं कि हिन्दू समाज को करना चाहिए। ये सब कार्य राज्य के संविधान में परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं।

वर्तमान संविधान उन लोगों की कृति है, मैकाले की शिक्षा के कारण जिनकी बुद्धि सर्वथा मलिन हो चुकी थी। मैकाले की शिक्षा का उद्देश्य ही यह था कि उसके आधार पर भारत को सदा सर्वदा के लिए ब्रिटिश शासन का दास बनाये रखा जा सके। ऐसे लोगों द्वारा रचित संविधान यदि देश को निरन्तर रसातल की ओर ले जा रहा है तो इसमें किसी प्रकार के विस्मय की बात नहीं है। 'रोपा पेड़ बबूल का—आम कहाँ से खाय।'

वर्तमान शासन स्वतः ही अपने में सुधार करेगा, यह आशा करना व्यर्थ है। क्रान्ति हम चाहते नहीं। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय बलपूर्वक सहसा परिवर्तन करना है। वह न तो सम्भव है और न ही उससे किसी प्रकार का लाभ ही होगा। यद्यपि हम भी चाहते हैं कि परिवर्तन द्रुतगति से हो किन्तु क्रान्ति का अभिप्राय तो होता है लाठी के बल पर परिवर्तन, वह हम नहीं चाहते। हम परिवर्तन चाहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, द्रुतगति से भी चाहते हैं किन्तु हम वैचारिक परिवर्तन चाहते हैं, लाठी के बल पर क्रान्ति नहीं।

इसका प्रारम्भिक बिन्दु है शिक्षा। हम चाहते हैं कि शिक्षा हिन्दू धर्म स्थानों, मन्दिरों, पूजा स्थानों, तीर्थों और धार्मिक एवं जातीय पर्वों पर उग्र प्रचार के माध्यम से हो।

यह हिन्दू समाज का कार्य है, हिन्दू के स्व अस्तित्व की रक्षा का कार्य है। हम इसमें किसी के विरोध की भावना नहीं देखते।

एक बार हिन्दू समाज में यह भावना उग्र रूप से उत्पन्न हो गई कि वर्तमान संविधान ही हमारी वर्तमान दुर्व्यवस्था का मूल कारण है तो फिर कोई कारण नहीं कि वह बदला न जा सके।

परन्तु हमारा यह भी कहना है कि किसी पुरानी इमारत को गिराने से पूर्व यह भलीभाँति विचार कर लेना चाहिए कि नये भवन का मानचित्र किस प्रकार का होगा। यह वैचारिक क्रान्ति कहलायेगी। इसी कारण हम बता रहे हैं कि वर्तमान अवस्था में जो दुर्व्यवस्था है उसमें क्या-क्या दोष हैं और उसके कारण क्या-क्या हैं।

: ५ :

बुद्धिवाद

किसी भी परिवर्तन में वे ही सर्वाधिक बाधक होते हैं जो बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा की महिमा का बखान करते हैं। बुद्धिवादी और श्रद्धावान में अन्तर यही है कि बुद्धिमान तो स्वयमेव विचार करने का यत्न करता है। वह सबकी बात को सुनता भी है और फिर उसपर मनन भी करता है तदनन्तर वह निर्णय करता है। इसी को बुद्धिवाद कहते हैं। इस प्रकार के आचरण में दोष निकालने वाले यह कहते हैं कि सबकी बुद्धि समान नहीं होती। इसलिए सब बुद्धिवादी कभी किसी विषय पर एकमत नहीं हो सकते।

इस तर्क को सुनकर हमारे मन से सहसा यह निकलता है कि ऐसे व्यक्ति न केवल बुद्धिविहीन हैं अपितु वे यह सोचते भी नहीं हैं कि उनको भी बुद्धिवादी बनना चाहिए। बुद्धिमान और ज्ञानवान होने का पहला लक्षण है कि व्यक्ति में बुद्धि के विकास और बुद्धि के प्रयोग की उत्कण्ठा उग्र रहे। ऐसा व्यक्ति यदि कभी भूल भी करे तो उसको अपनी भूल सुधारने का अवसर मिलता रहता है। उसका कारण यह है कि बुद्धिवादी जब भी देखेगा कि उसने भूल की थी और उसका दुःखद परिणाम निकला है तो स्वाभाविक ही वह अपनी भूल पर पुनरावलोकन करने लग जायेगा। बस यही प्रगति का मुख्य लक्षण है।

इसके विपरीत जो श्रद्धा से बंधा हुआ है पहले तो भूल करने पर उसको यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान ही नहीं हो पायेगा कि उसने किसी प्रकार की भूल भी की है। फिर उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह भूल का कारण समझ सके। अधिकाधिक वह उस व्यक्ति के पास चला जायेगा जिसपर श्रद्धा के कारण उससे भूल हुई है। यदि उसका उस व्यक्ति पर से विश्वास उठ भी जाय तो फिर वह किसी अन्य श्रद्धा केन्द्र की खोज में चल पड़ेगा।

जो लोग किसी सन्त-महात्मा अथवा किसी पीर-पैगम्बर पर श्रद्धा रखते हैं साधारणतया उन लोगों की ऐसी ही स्थिति होती है। उनका विश्वास केवल श्रद्धा का परिणाम होता है। और जब उनके विश्वास की सिद्धि नहीं हो पाती तो फिर वे किसी अन्य गुरु, महात्मा अथवा पीर-पैगम्बर की खोज में निकल पड़ते हैं। इसी कारण संसार में मत-मतान्तरों की अपार सृष्टि होती जाती है। ऐसे व्यक्तियों में यह होता देखा जाता है कि वह पूर्व व्यवहार में दोष मानकर पीर-पैगम्बर से नयी प्रेरणा लेने के लिए चल पड़ते हैं।

किन्तु बुद्धिजीवी का व्यवहार इससे सर्वथा भिन्न होता है। वह पहले विषय पर भलीभाँति विचार करेगा और उसके बाद ही अपनी धारणा स्थिर करेगा। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी उचित व्यक्ति से परामर्श भी करता है। उस राय पर भी वह मनन करता है किन्तु अपनी राय वह अपनी बुद्धि के अनुसार ही स्थिर करता है। उसके बाद वह उसपर व्यवहार करता है। यदि उस व्यवहार से उसको असफलता मिलती है अथवा उसका आभास मिलता है तो फिर वह अपने मन में अपने पूर्व विचार पर पुनः मनन करने लगता है। इस प्रकार वह अपने व्यवहार में सुधार करने का यत्न करता है।

इसका एक परिणाम तो यह होता है कि अपनी असफलता के लिए वह किसी अन्य को उत्तरदायी नहीं मानता। वह अपनी विचार प्रणाली को सुधारने का यत्न करता है। इस कार्य में भी वह किसी अन्य से परामर्श लेने का यत्न करता है। अपने व्यवहार का वह तबतक निर्णय नहीं करता जबतक कि उसको आगे का मार्ग स्पष्ट न दिखाई देने लग जाय।

यही उन्नति का मार्ग है। अन्ध श्रद्धा अवगति की सूचक होती है। यह स्थिरता की सूचक तो है किन्तु प्रगति और अवगति दोनों में समान है। प्रगति में उन्नति भी होती है किन्तु यदि दुर्भाग्य से प्रगति अवरुद्ध हो जाय तो वह उस स्थिति में अपना मार्ग नहीं पा सकता। इसमें असफलता पर अवलोकन करने के लिए यदि सम्मति देने वाला व्यक्ति न हो तो श्रद्धालु भक्त निराश्रय अधर में लटकता रह जाता है।

पैगम्बर तो अपने व्यापक विधि-विधानों के होने पर भी भक्त की असफलता के समय विद्यमान नहीं हो सकता।

हमारा यह निश्चित मत है कि परामर्शदाता हो अथवा न हो, यदि कर्म करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला बुद्धिमान है तो वह प्रत्येक अवस्था में अपना मार्ग स्वयं बनाने का यत्न करता है और असफलता में भी सफलता की आशा कर सकता है।

इस प्रकार हम हिन्दू समाज को बुद्धि के मार्ग के अनुसरण की सम्मति दे रहे हैं। हम इसी को हिन्दू समाज की रीढ़ की हड्डी मानते हैं।

हमारें दर्शनशास्त्रों में बुद्धि की महिमा का बखान किया गया है। वे बुद्धि द्वारा मार्गदर्शन का यत्न भी करते हैं। बुद्धि से किस प्रकार मार्गदर्शन किया जाता है इसका वर्णन ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार किया गया है :

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष प्रसंगः ॥ २-१-११ ॥

अर्थात्—अप्रतिष्ठत युक्ति होने से अनुमान के असिद्ध होने का अवसर हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि से जब भी किसी विषय पर विचार करने लगो तो विचार का आधार प्रतिष्ठित होना चाहिए।

इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। यह कहा जाता है कि यदि किसी स्थान से धुआँ उठता दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए वहाँ अग्नि निश्चित ही है।

सांख्यकार ने इस प्रकार की आधारयुक्त युक्ति से सृष्टि-रचना के अति गूढ़ रहस्य का उद्घाटन कर दिया है। ऐसा माना जाता है कि सांख्यदर्शन का प्रवक्ता त्रेतायुग के आरम्भ में हुआ था। हिन्दू तिथि काल के ज्ञाता उसको आज से लगभग बीस लाख वर्ष पूर्व का मानते हैं। कुछ भी हो वह सांख्य का प्रवक्ता वर्तमान युग के वैज्ञानिकों से पहले तो हुआ ही था और हमारा दावा है कि सृष्टि-रचना विज्ञान के जानने वालों से बहुत कुछ अधिक सांख्य के प्रवक्ता कपिल मुनि ने केवल मात्र युक्ति के आधार पर बता दिया है।

यदि यह कहा जाय कि सांख्य का प्रवक्ता वर्तमान वैज्ञानिकों से बहुत अधिक जानता था तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्तमान विज्ञान में सृष्टि का प्रारम्भिक बिन्दु है एटामिक पार्टीकल्ज। ये एटामिक पार्टीकल्ज कहाँ से और किस प्रकार आये, आधुनिक वैज्ञानिक इस विषय में कुछ भी नहीं जानते।

सांख्य के प्रवक्ता ने इसके विषय में अपने ढंग से अनुमान लगाया है। क्योंकि सांख्य के अनुसार एटामिक पार्टीकल्ज तो वैज्ञानिकों द्वारा समर्थित हैं, इस कारण इनसे आगे का अनुमान भी सिद्ध ही होगा, ऐसा कहा जा सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धिवाद सफलता का सुनिश्चित मार्ग है। इससे बुद्धिमानों का उन सब कामों पर अधिकार, जिनका सम्बन्ध बुद्धि से है, हितकर ही होगा।

इस कारण हमारा, प्रजातान्त्रिक राज्य की व्यवस्था की योजना में बुद्धिमानों के लिए प्रमुख स्थान का आग्रह है। इस योजना में उन सब स्थानों के लिए जिनमें सोच-विचार की आवश्यकता है वहाँ के अधिकारियों के लिए शिक्षा और बुद्धिमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने की शर्त होनी चाहिए। इसके साथ ही उन अधिकारियों को नियुक्त करने वाले अथवा निर्वाचित करने वालों के लिए बुद्धिमान तथा शिक्षित होने की शर्त होनी चाहिए।

हमने बताया है कि स्मृतिकार अर्थात् कानून बनाने वाले विद्वान् होने चाहिए। और उनका निर्वाचन करने वाले भी विद्या से भूषित होने चाहिए। उनकी शिक्षा कितनी हो, विद्या से कितने भूषित हों, यह व्याख्या का विषय है। देश और काल को देखकर इसका निर्णय किया जा सकता है।

हमने यह भी बताया है कि न्यायपालिका में भी विद्वान् और धर्मप्रिय व्यक्ति होने चाहिए। हमने यह भी बताया है कि देश का राष्ट्रपति भी जाति का चोटी का विद्वान् होना चाहिए।

इसी प्रकार समाज में शिक्षा विभाग भी विद्वानों के हाथ में होना चाहिए। देश के प्रबन्ध में जो बात सामान्य जनता के अधीन की जा सकती है वह है शासन की। इसे हम वयस्क मतदान से निर्वाचित प्रतिनिधियों के अधीन मान सकते हैं। आजकल की लोकसभा तथा राज्यों की विधान सभायें ही वे हैं। ये केवल शासन के प्रबन्ध के लिए हो सकती हैं।

द्वितीय परिच्छेद

: १ :

राष्ट्र

हम समाज और राष्ट्र को पर्यायवाची मानते हैं। अर्थात् भारत में राष्ट्र तो हिन्दू है, वह इसलिए कि इस समय भी भारत देश में अस्सी प्रतिशत के लगभग हिन्दू रहते हैं। इनसे अतिरिक्त जो मनुष्य समुदाय यहाँ रहते हैं उन्हें हम इस देश में रहने वाली विभिन्न जातियाँ समझते हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि राष्ट्र और जाति में क्या सम्बन्ध है ?

जिस समय मुसलमान लोग मियाँ जिन्ना के नेतृत्व में पृथक् राज्य की माँग कर रहे थे उस समय कांग्रेस के नेता यह प्रचार कर रहे थे कि हिन्दू और मुसलमान एक ही राष्ट्र हैं। उस समय श्री सावरकर ने यह घोषणा की कि हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्र नहीं हैं। उनकी बात सुनकर कांग्रेस में खलबली मची। तब सावरकर जी ने अपने विचारों की विस्तृत व्याख्या नहीं की थी। कदाचित् वे यह मानते थे कि द्वि-राष्ट्र की विद्यमानता में देश का विभाजन अनिवार्य माना जायेगा। वह समय ऐसा था कि देश के तीनों पक्ष अर्थात् ब्रिटिश सरकार, मुसलमान और कांग्रेस नेतृत्व में हिन्दुओं में विचारशीलता नहीं रही थी। तीनों ही पक्ष समाघोषों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मनोद्‌गारों के आधार पर ही अपना व्यवहार कर रहे थे।

अब तो स्थिति ऐसी है कि राष्ट्र के अर्थ समझे और समझाये जा सकते हैं। राष्ट्र एक मानव जनसमूह है जो निश्चित मान्यतायें और लक्ष्य रखता है। जो किसी देश में रहने वालों के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को सन्मार्ग दिखाने में यत्नशील है। इसके विपरीत जाति वह जनसमूह है जिसकी रुचि अपने घटकों के हित में ही सीमित है।

वेद में राष्ट्र के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽ इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम् ।।यजु० २२-२२।।

इस मन्त्र में याचना अथवा इच्छा की गई है कि हमारे राष्ट्र में क्या-क्या बातें हों जिससे राष्ट्र पूर्ण समझा जा सके। उनकी गणना इस प्रकार कराई गई है—

परमात्मा का संरक्षण, विद्वान् लोग, वेद के विद्वान्, शस्त्रास्त्र निपुण वीर, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले युद्धविशारद, रथों तथा यानों को बनाने तथा चलाने वाले कुशल लोग, शूर-वीर क्षत्रिय लोग, दूध देने वाली गायें, भार ढोने वाले साधन, शीघ्र चलने वाले यान, सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ, शत्रुओं को जीतने वाला सेनापति, सभाओं में कुशल वक्ता, विद्वानों का सत्कार करने वाली प्रजा, उण्ज का पालन करने वाली वर्षा, बल एवं रस से युक्त अन्न एवं फल, सबके लिए योग और क्षेम ;

ऐसी सामर्थ्य वाला राष्ट्र हो। यह कामना की गई है।

इसमें लगभग वे सब ही बातें समाहित हैं जिनका हमने हिन्दू समाज के गुणों में वर्णन किया है। कहीं-कहीं शब्द-भेद हो सकता है किन्तु भाव समान ही हैं। समाज के गुणों में हमने प्रत्येक के लिए करणीय धर्म के दस नियमों का भी उल्लेख किया है। उनका पालन राज्य के अधीन कर दिया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ कामना की गई है और राज्य में पालन करने का आदेश है।

यहाँ पर जो बात बताना चाहते हैं वह यह है कि राष्ट्र, परमात्मा और वेद-धर्म की अनिवार्य मान्यता पर बल दिया जाना चाहिए। इसका यही अभिप्राय है कि देश में रहने वाले कुछ समुदाय ऐसे भी हैं जो वेद-धर्म और वेद की जीवन-मीमांसा मानने को तैयार न हों। तदपि वे देश के नागरिक बने रह सकते हैं। किन्तु वे हिन्दू राष्ट्र अथवा हिन्दू समाज के अंग नहीं हो सकते।

वैसे यदि कुछ विवेक से काम लिया जाय तो इसमें प्रायः वे सब समुदाय आ जाते है जो आस्तिक हैं। आस्तिक के विषय में हम बता चुके हैं कि हम उनको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्तिक मानते हैं जो कि इस जगत् में किसी सर्वव्यापक शक्ति को मानते हैं, जिससे सृष्टि की रचना हुई है। वह नेचर (प्रकृति) है, पुद्गल है, अथवा व्योम में भँवर मात्र है। ये सब आस्तिक हैं। शून्यवादी इस श्रेणी में नहीं समाते। क्योंकि उनका यह कहना कि शून्य से यह सब प्रपंच बना है, बुद्धिगम्य नहीं है। हिन्दू समाज का पूर्ण आधार बुद्धिगम्य है। अभिप्राय यह कि हिन्दू राष्ट्र में शून्यवादियों को छोड़कर सभी समा सकते हैं, यदि वे तनिक विवेक से काम लें। हमने बताया है कि विचारों में लोग आगे-पीछे हो सकते हैं। परन्तु यदि उनका मुख एक ओर है तो वे हिन्दू ही हैं।

हिन्दू राष्ट्र न तो अवतारवाद को वर्जित करता है न ही पीर-पैगम्बरवाद को। राष्ट्र एक मानव समूह है जोकि बुद्धिगम्य है और सहचारिता से एक-साथ रहना चाहता है।

जहाँ तक वेद और वेद के ज्ञाताओं का प्रश्न है, वेद के शाब्दिक अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। वेद का शाब्दिक अर्थ है 'सत्य ज्ञान'। सत्य और असत्य का निर्णय बुद्धि अर्थात् तर्क से होता है न कि श्रद्धा से।

ऐसी स्थिति में भारत के सब समुदाय स्वयं को हिन्दू राष्ट्र में मान सकते हैं। इनमें केवल वे समुदाय नहीं आ पायेंगे जो श्रद्धा को बुद्धि से ऊपर मानतेहैं। हम समझते हैं कि रोमन केथोलिक ईसाई और मुसलमान के अतिरिक्त अन्य सब समुदाय हिन्दू राष्ट्र में समा सकते हैं।

यह हम मान्यताओं के विषय में ही कह रहे हैं। जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है वहाँ व्यक्ति का व्यक्ति से व्यवहार राज्याधीन है। और जहाँ तक मन से विचार का सम्बन्ध है व्यवहार इस मान्यता से चलेगा—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि भारत में राष्ट्र हिन्दू ही क्यों हो? भारतीय अथवा किसी अन्य नाम से क्यों न हो? इस विषय में हमारा यही कहना है कि जब अस्सी प्रतिशत के लगभग लोग इस समय यहाँ हिन्दू हैं तो राष्ट्र का नाम हिन्दू ही होगा। तब हिन्दू से अन्य समुदाय वाले लोग कह सकते हैं कि वे एक दूसरा राष्ट्र बनाकर इस देश में रहेंगे।

हम समझते हैं कि राष्ट्र तो देश में एक ही हो सकता है। राष्ट्र बहुसंख्यक समुदाय वालों का ही होगा, अल्पमत वालों का नहीं। देश में, राष्ट्र में सम्मिलित न होने वाले नागरिक तो रह सकते हैं। एक नागरिक और दूसरे नागरिक में भेद-भाव राज्य की ओर से अथवा उनके नागरिक जीवन में नहीं होना चाहिए। परन्तु अल्पमत वाले इस देश में राष्ट्र नहीं कहा सकते।

इसपर प्रश्न उत्पन्न होता है कि राष्ट्रीयता और नागरिकता में क्या अन्तर है? हमने पूर्व के अध्यायों में इसपर विचार व्यक्त किये हैं। समाज अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध मान्यताओं से है। अतः राष्ट्र के कार्य में राष्ट्र के बाहर के घटकों को हस्तक्षेप करने नहीं दिया जायेगा। मान्यताओं में अन्तर नहीं आने दिया जायेगा।

मान्यतायें शिक्षा का क्षेत्र हैं। इस कारण समाज अथवा राष्ट्र की शिक्षा में राष्ट्र से बाहर के घटकों को हस्तक्षेप करने नहीं दिया जाता। दूसरे शब्दों में, शिक्षा केवल राष्ट्र के विद्वानों के हाथ में होगी। वे लोग जो स्वयं को हिन्दू राष्ट्र में नहीं समझते, हिन्दू बालकों की शिक्षा में उनका कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। यहाँ मन, बुद्धि और आत्मा की शिक्षा से अभिप्राय है।

राष्ट्र का अपना इतिहास है। उसके अन्वेषण तथा रचना पर राष्ट्र का ही अधिकार है। इतिहास में ही समाज के महापुरुषों, देवी-देवताओं, मन्दिर और ऐतिहासिक स्थानों को भी हम सम्मिलित करते हैं। राष्ट्र का सम्बन्ध धार्मिक तथा ऐतिहासिक पर्वों से भी है।

उपरिलिखित राष्ट्र-सम्बन्धी वेद-मन्त्र में एक शब्द 'योगक्षेम' भी है। इसका अर्थ है जो कुछ भी राष्ट्र ने प्राप्त किया है राष्ट्र के हित में उसकी रक्षा करना और उसके अधिक पाने के लिए प्रयत्न करना।

इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्र की कुछ निधि है। उसमें ज्ञान मुख्य है। निधि अनेक रूपों में हो सकती है यथा ऐतिहासिक भवन, मन्दिर, धर्मस्थान, तीर्थस्थान और इन स्थानों की सम्पत्ति। इन सब पर भी राष्ट्र का अधिकार हो। राज्य तथा राष्ट्र के बाहर के घटकों का इसमें हस्तक्षेप नहीं हो।

इस प्रकार राष्ट्रीय पर्व का निर्धारण करने के लिए राष्ट्र द्वारा नियुक्त कोई संस्था हो।

यदि राज्य का कार्य केवल प्रबन्ध और सुरक्षा तक सीमित कर दिया जाय तो राज्य वयस्क मतदान द्वारा निर्वाचित होगा। इस पर भी वह राष्ट्र के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करे।

राज्य का मुख्य कार्य शान्ति-व्यवस्था तथा देश की रक्षा-व्यवस्था ही हो। वह राष्ट्र के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करे। राष्ट्र के अतिरिक्त लोगों के भी समुदाय-सम्बन्धी कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप नहीं हो। तदपि एक समुदाय का दूसरे समुदाय से सम्बन्ध तथा उनके घटकों का परस्पर तथा दूसरे समुदाय के घटकों से सम्बन्ध देश की शान्ति-व्यवस्था का प्रश्न हो। तभी देश में भिन्न-भिन्न समुदाय साथ-साथ रह पायेंगे।

: २ :

अर्थ-व्यवस्था

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध किसके अधीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो ? इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि अर्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार होती है ? राज्य, जैसी कि हमने ऊपर इसकी कल्पना की है, अर्थ का स्रोत नहीं है। वह अर्थ का निर्माता भी नहीं है। क्योंकि राज्य देशवासियों तथा राष्ट्र की सेवा करता है, इस कारण इनको व्यय करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। परन्तु धन का उत्पादन व्यक्ति करते हैं, राज्य नहीं।

प्रश्न उपस्थित होता है कि राज्य के खर्च के लिए धन कहाँ से उपलब्ध किया जाय ? क्या इसे अपने खर्चे के लिए धनोपार्जन की स्वीकृति दी जाय ?

यदि ऐसा किया गया तो यह देश में सबसे बड़ा बुर्जुआ हो जायेगा। प्रायः उन सब देशों में ऐसा हो रहा है जिनमें राज्य को धन अर्जन की स्वीकृति प्राप्त है। साम्यवादी देशों तथा उनके समकक्ष देशों में यही सब हो रहा है।

जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है, प्रायः सभी समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी देशों में अर्थ-व्यवस्था दिनानुदिन अधिकाधिक राज्य के अधिकार में होती जा रही है। कठिनाई यह है कि राज्य स्वयं ही विधि-विधान निर्माता, प्रबन्धक, अर्थ-निर्माता और अर्थ नियन्ता हो रहा है। यही कारण है कि संसार के सभी देशों में अर्थ-व्यवस्था डगमगा रही है।

धन के दो ही स्रोत हैं। एक है प्रकृति और दूसरा मानव परिश्रम। यदि यह कहा जाय तो और भी उपयुक्त होगा कि केवल एक ही स्रोत है और वह है प्रकृति। मानव को परिश्रम करने के लिए जो सामर्थ्य प्राप्त होती है वह भी तो प्रकृति से ही प्राप्त होती है।

मानव उपयोग के लिए प्रकृति केवल दो ही मार्गों से धन की लहरें बिखेर रही है। एक मार्ग है पृथिवी और दूसरा मार्ग सूर्य। सूर्य इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन के रूप में निरन्तर पृथिवी पर भेज रहा है। ये कण केवल शक्ति का रूप ही नहीं वरन् इनमें न्यूट्रोन के रूप में उपादान भी रहता है।

अतएव धन का स्रोत मुख्यतया सूर्य है। कुछ अंशों में पृथिवी के गर्भ के पदार्थ भी हैं। इन दोनों स्रोतों से प्राप्त होने वाली ऊर्जा और उपादान अर्थ का स्रोत हैं। इनमें राज्य का किंचिन्मात्र भी हाथ नहीं है। अतः हमारा यह मत है कि यदि इस प्राकृतिक धन पर राज्य का कुछ अधिकार है तो केवल उतना ही जितना कि किसी व्यक्ति का है। कारण यह कि विना व्यक्ति के यत्न के सूर्य अथवा पृथिवी के पदार्थ उपलब्ध नहीं होते।

सूर्य से प्राप्त होने वाला यह धन और उसको उपलब्ध कराने में पृथिवी का सहयोग राज्य निर्मित नहीं है। मनुष्य निर्मित भी नहीं है। यह तो मानव शरीर के निर्माण करने वाले की ही कुशलता है कि जिसके कारण मनुष्य सूर्य से आने वाली ऊर्जा और उपादान को शरीर में संचित कर उसके द्वारा परिश्रम करने में समर्थ होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर क्रिया विज्ञान के जानने वाले जानते हैं कि अन्न वनस्पतियों से प्राप्त होता है। वनस्पतियों में अन्न सूर्य की देन है। और सूर्य से प्राप्त होने वाली ऊर्जा और उपादान किसकी देन है ? जो लोग परमात्मा को मानते हैं, वे इसके लिए उसके गुणानुवाद करते हैं। और जो अनीश्वरवादी हैं, वे प्रकृति का नाम लेते हैं। कुछ भी हो, यह मनुष्य को उपलब्ध है। राज्य प्रपंच का इसमें किंचित् भी हाथ नहीं है।

तदपि राज्य का निर्माण मानव की सेवा के लिए किया जाता है। इस कारण उसका व्यय-भार भी मनुष्य को ही वहन करना होगा।

इस प्रकार से संसदीय राज्य प्रणालियों में इस न्याय को स्वीकार किया गया है। भारत में भी लोकसभा को ही राज्य का बजट पारित करने का अधिकार प्राप्त है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थ ईश्वर की देन है अथवा प्रकृति की देन है, यह मनुष्यमात्र के लिए दिया जा रहा है। अतः इसपर मुख्य अधिकार मनुष्य का ही है। राज्य इसको मनुष्य के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

इसके विपरीत कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि किसी देश में मनुष्य राज्य को उसका व्यय-भार प्रदान नहीं करता अपितु राज्य-प्रपंच मनुष्य को उसका व्यय-भार दे रहा है। राज्य अपना बजट बनाता है और उस बजट के अनुसार जनता को देने के लिए विवश करता है। किसी उचित कारण से ही क्यों न हो, यदि उसपर लगाया गया कर व्यक्ति नहीं दे पाता है तो उसको विवश किया जाता है और उसकी सम्पत्ति तथा उसका शरीर भी एक प्रकार से राज्य के पास बन्धक रखा माना जाता है।

यह प्रबन्ध अस्वाभाविक और कष्टप्रद है। राज्य कुछ कम आय वालों को कर मुक्त करके यह प्रकट करने का प्रयास करता है कि निर्धनों के प्रति उसके मन में दया भाव है। राज्य यह प्रकट करने का यत्न करता है कि अधिक आय वालों पर वह छलाँगें लगाता हुआ करों में वृद्धि कर रहा है। यह सर्वदा मिथ्यावाद है। कारण यह है कि धनीमानी पर जो कुछ भी कर लगाया जाता है वह वास्तव में उनके द्वारा बेचे जाने वाले माल तथा निर्माण किये जाने वाले माल पर ही होता है। और उसका बोझ सभी उपभोक्ताओं पर पड़ता है। उन उपभोक्ताओं में वे करमुक्त निर्धन भी होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा वस्तुओं पर लगाया गया कर केवल उत्पादकों पर भार नहीं होता अपितु वह सभी उपभोक्ताओं को प्रभावित करता है। उनमें निर्धन भी सम्मिलित हैं जिनको कि सरकार ने अथवा राज्य ने कर-मुक्त घोषित किया हुआ है। अतः हम इस विधान को सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। इससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है और इसका प्रभाव धनी एवं निर्धन सभी प्रकार के लोगों पर होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिकाल में जबसे राज्य प्रणाली आरम्भ हुई है राज्य की आय का स्रोत ऐसा नियत किया हुआ है कि जिसका विशेष प्रभाव जनता पर होता है। वह इस प्रकार है—

राज्य को प्राकृतिक पदार्थों का स्वामी मान लिया गया है। वह उन प्राकृतिक पदार्थों का विक्रय कर उनका मूल्य प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ भूमि से निकलने वाला कोयला, तेल, झरनों में बहता हुआ जल जो बाद में नदी का रूप धारण कर लेता है तथा अनेकानेक खनिज पदार्थ, सोना, चाँदी, राँगा आदि-आदि। यह क्षेत्र राज्याधीन कर दिया गया है।

राज्य स्वयं इन प्राकृतिक पदार्थों का मूल्य प्राप्त करके भी पुनः कर प्राप्त कर सकता है। इनको प्राप्त करने का पारिश्रमिक कर्मचारियों को देकर उसपर उचित लाभ भी उठा सकता है। अथवा इन प्राकृतिक पदार्थों को ठेके पर व्यापारियों को देकर रायल्टी के रूप में उनका मूल्य प्राप्त कर सकता है।

उदाहरण के रूप में देश में कई स्थानों पर भूमि से तेल और गैस निकल रही है। उसके साथ कुछ अन्य पदार्थ भी निकलते हैं। ये सभी राज्य की सम्पत्ति हैं। राज्य इन प्राकृतिक उपलब्धियों से धनोपार्जन कर सकता है। परन्तु कर लगाकर मानव परिश्रम को महँगा करना और उससे धन प्राप्त करना हम राज्य का अधिकार नहीं मानते।

यह ठीक है कि उन प्राकृतिक उपलब्धियों पर राज्य यदि मूल्य बढ़ायेगा तो तब भी उपभोक्ताओं पर बोझ बढ़ेगा। किन्तु हम इसको इस प्रकार नहीं समझते। यदि किसी स्थान पर राज्य प्राकृतिक वस्तुओं के मूल्य पर अपना लाभ अधिक करने के लिए अधिक कर लेता है तो मनुष्य अन्य किसी से वही अथवा उसका स्थानापन्न ढूंढ़ निकालेगा और वह सरकार का प्रतिद्वन्द्वी बन जायेगा।

इसका भी एक उदाहरण दिया जा सकता है। राज्य ने 'नेचुरल गैस' को आजकल अपने अधिकार में किया हुआ है और आये दिन उसका मूल्य बढ़ाता जा रहा है। अब उस प्राकृतिक गैस का विकल्प ढूँढ़ा जा रहा है। अभी तक इस ओर अधिक प्रगति नहीं हुई है। उसका एक रूप है 'गोबर गैस'। दूसरा विकल्प 'सौर ऊर्जा' ढूँढ़ा गया है। किन्तु इसका अभी तक पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। अधिकांश जन यह जानते हैं कि पैट्रोल और प्राकृतिक गैस के मूल्य में की जाने वाली वृद्धि कृत्रिम है। अपने प्रतिद्वन्द्वी के आविष्कारों को परास्त करने के लिए किसी भी समय तेल और गैस का मूल्य कम करके इन विकल्पों को निरर्थक कर दिया जायेगा। यही कारण है कि अन्य साधनों की ओर पूर्णतया ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

इस सबका समाधान यह है कि राज्य अपने देश की भूमि का स्वामी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसे अपने देश के नागरिकों के लिए अपनी देश की भूमि की उपज पर ही निर्भर करना चाहिए। वर्तमान तेल और गैस की समस्या तो इस कारण उत्पन्न हुई है कि हमने देश में ही उपलब्ध तेल और गैस से अधिक उसका प्रयोग करने के लिए मोटरें और मशीनें बना ली हैं। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई है कि देश में बहुत बड़े तेल भण्डारों के प्राप्त होने पर भी हम करोड़ों रुपयों का तेल आदि विदेश से मँगवाने पर विवश हो गये हैं।

इतना स्मरण रहे कि हम उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें तथा उसके मूल्यों की बात कर रहे हैं।

हमने अपने ज्ञान से अधिक अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि कर ली है। हमारे देश के प्रथग प्रधानमन्त्री की यह भावना कि वे बैलगाड़ी के स्थान पर हवाई जहाज को प्राथमिकता देते हैं, यह उसका ही परिणाम है।

इस भावना में दो भूलें थीं। एक तो यह कि हवाई जहाज बनाने से पहले ही उनमें यात्रा करने की योजना बना ली गई थी। दूसरी भूल यह थी कि जहाँ कहीं बैलगाड़ी से अच्छा काम चल सकता था वहाँ भी हवाई जहाज ले जाने का निश्चय कर लिया गया था।

अभिप्राय यह है कि साधनों की उपलब्धि से पूर्व ही आवश्यकताओं का निश्चय कर लिया गया था।

यह विषयान्तर बढ़ता जा रहा है किन्तु विषय को भली-भाँति समझाने के लिए यह असंगत बात भी यहाँ पर करनी पड़ गई है। हम कह रहे थे कि राज्य को चाहिए कि वह प्राकृतिक साधनों को बेचकर अपनी आय करे। मानव परिश्रम पर प्रतिबन्ध लगाकर अपनी आय में वृद्धि करने का यत्न राज्य को नहीं करना चाहिए। इससे मूल्यों में वृद्धि होती है और यह प्रजा के लिए अस्वाभाविक एवं अत्यन्त कष्टप्रद परिस्थिति है।

यह कहा जा सकता है कि वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने पर भी लोग सुखी दिखाई देते हैं। क्योंकि मूल्यों में वृद्धि होने के साथ-साथ नागरिकों की आय में भी वृद्धि हुई है।

वास्तविकता ऐसी नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस अनुपात से मूल्यों में वृद्धि हुई है उस अनुपात से मानव परिश्रम का मूल्य नहीं बढ़ा है।

किसी भी कार्य का पारिश्रमिक और उस काम को करने वाले की आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि समानान्तर रेखाओं में नहीं है। सरकारी सेवकों तथा उद्योगपतियों के सेवकों के वेतन और प्रयोगों की वस्तुओं को मूल्यों का अनुपात लगाकर देखा जा सकता है कि दोनों रेखायें न तो समानान्तर हैं अपितु समय व्यतीत होने के साथ-साथ ये रेखायें एक-दूसरे से बहुत दूर जाती दिखाई दे रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली में सरकारी कर्मचारी को किसी समय आरम्भ में चौवन रुपया मासिक मूल वेतन मिलता था। उन दिनों दिल्ली में शुद्ध घी का मूल्य एक रुपया सेर था। दूध दो आने सेर था। नयी दिल्ली में कनॉट प्लेस जैसे स्थान पर मकान का किराया पचास-साठ रुपया मासिक था। पुरानी दिल्ली में पाँच-छः रुपयों में मकान मिल जाया करता था।

आज सरकारी कर्मचारी का प्रारम्भिक मूल वेतन साढ़े तीन सौ के लगभग है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि क्लर्क के आरम्भिक वेतन में आठगुना वृद्धि हुई है। किन्तु आज शुद्ध घी लगभग चालीस रुपया सेर मिलता है। दूध चार रुपये सेर और कनॉट प्लेस में मकान तो अब दो हजार रुपयों में भी नहीं मिलता। पुरानी दिल्ली में भी चार-पाँच सौ से कम में नहीं मिलता।

हमारे कहने का यही अभिप्राय है कि परिश्रम के पारिश्रमिक में जहाँ वृद्धि हुई है वहाँ उपभोक्ता वस्तुओं का मूल्य आय के अनुपात से बहुत अधिक बढ़ गया है। घी, दूध, गेहूँ, चावल आदि-आदि सभी के मूल्यों में अपार वृद्धि हुई है। इसी प्रकार मकानों का किराया भी बीस-तीस गुना बढ़ गया है।

इसका मुख्य कारण है सरकार के कर निर्धारण का विधि-विधान का त्रुटिपूर्ण होना। दूसरी ओर राज्य ने अनेक ऐसे काम अपने हाथ में ले लिये हैं जिन्हें स्वतन्त्र नागरिक को करना चाहिए था। राज्य लाभ की दृष्टि से उन कामों को अपने हाथ में लिये हुए है।

मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि जिस सावधानी और लगन तथा परिश्रम से वह अपना कार्य करता है उस अनुपात में दूसरे का कार्य नहीं करता। इसके अतिरिक्त अपने कार्य में तो किसी प्रकार की बेईमानी का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु दूसरे के काम में इस बात की भी सम्भावना बनी रहती है। विशेष रूप में उस शिक्षा से शिक्षित जिसमें मन, बुद्धि और जीवात्मा के कर्मों तथा उत्तरदायित्वों का उल्लेख ही न हो। केवल जोड़ना, घटाना और गुणा-भाग सीखकर शिक्षित कहलाने वाले पराये धन से खेलने लगते हैं तो फिर धोखा-धड़ी करने में संकोच नहीं करते।

राज्य व्यापार और उद्योग में कभी भी सफल नहीं हो सकता। वास्तव में लिमिटेड कम्पनियों को लाखों का लाभ लेते देखकर सरकार के मुख में पानी भर आया है। परन्तु राज्य इस बात को भूल जाता है कि लिमिटेड कम्पनी में भी मैनेजर सदा वे ही होते हैं जिनका उस कम्पनी में धन लगा होता है। किन्तु राजकीय उद्योग में तो मैनेजर का किसी प्रकार का धन लगा ही नहीं होता। वह मात्र कर्मचारी होता है। राज्य मन्त्री भी, जो वास्तव में राजकीय उद्योगों का प्रबन्धक होता है, वह भी धन लगाने वाला नहीं होता। यह भी एक विशेषता है कि उनका प्रबन्धकाल भी सीमित होता है। आगामी निर्वाचनों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका पुनः निर्वाचित होकर आना और फिर उसी विभाग का मन्त्री बनना भी सन्दिग्ध ही होता है।

हमारा निश्चित मत है कि उद्योग-धन्धे, विशेषतया वे उद्योग-धन्धे जिनमें उपभोक्ताओं की दैनन्दिन की आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण होता है, वे लघु उद्योगों के अन्तर्गत आने चाहिए। यदि उनमें मशीनों की आवश्यकता हो तो वे भी इतनी छोटी-छोटी होनी चाहिए कि उसे अधिक से अधिक एक परिवार को चलाने में कठिनाई का अनुभव न करे।

राज्य को उद्योग-धन्धों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रबन्ध में हम उन सब उद्योग-धन्धों को नहीं ले रहे जिनका सम्बन्ध सेना अथवा देश की सुरक्षा से है। उस प्रकार के धन्धों में न तो जनता से कर प्राप्त करने का विधि-विधान होता है न ही उन वस्तुओं के मूल्य का उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओं से उसका सम्बन्ध ही होता है। एक बात हो सकती है। वह यह कि बाजार में कच्चे माल की कमी हो जाये। किन्तु उसका भी प्रबन्ध किया जा सकता है। वह उचित मूल्य पर ही प्राप्त हो इस ओर ध्यान दिया जा सकता है। यह शान्ति-व्यवस्था का प्रश्न है।

जो बात हम चाहते हैं वह यह है कि राज्य उपभोक्ताओं के लिए आवश्यक वस्तुओं का व्यापार अथवा निर्माण-कार्य न करे। राज्य उन कामों को उस योग्यता से नहीं चला पायेगा जिसमे निजी उद्योगपति अथवा व्यापारी चला सकता है।

दूसरी बात यह है कि बड़े-बड़े उद्योग और व्यापार केन्द्र न हों। छोटी-छोटी इकाइयों में काम होना चाहिए। इसके लिए मशीन के निर्माताओं को प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे छोटी-छोटी मशीनें बनायें जो अधिक-से-अधिक एक परिवार में ही चलाई जा सकें।

तीसरी बात हम यह चाहते हैं कि सरकार को यत्न करना चाहिए कि वह अपना व्यय प्राकृतिक पदार्थों की बिक्री से पूर्ण कर ले। जहाँ तक सम्भव हो, मानव परिश्रम पर राजस्व न लगाये। यदि किसी अवस्था में कर लगाना ही पड़ जाय तो एक तो इसका परिमाण अति न्यून होना चाहिए और यह सब पर समान-रूपेण लागू हो। न्यूनातिन्यून आय करने वाले को कर तो देना पड़े किन्तु वह इतना कम हो और उसकी प्राप्ति इस प्रकार हो कि किसी को किसी प्रकार की कठिनाई ही अनुभव न हो सके। हमारी योजनानुसार निर्धन से भी निर्धन व्यक्ति को कर तो देना ही चाहिए, यह एक पैसा रुपया भी हो सकता है। इस प्रकार यह बहुत बड़ी आय का स्रोत हो सकता है। यदि इसकी प्राप्ति का उचित और सरल उपाय बनाया जा सके।

चौथी बात जो हम उचित समझते हैं वह यह है कि प्रथम तो लिमिटेड कम्पनियाँ ही नहीं होनी चाहिए, यदि हों तो वे छोटी-छोटी हों। उस कम्पनी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक कर्मचारी कम्पनी के लाभ में भागीदार हो। कर्मचारी का लाभ उसके वेतन के अनुपात में हो। जहाँ कर्मचारी का लाभ में भाग हो वहाँ पूंजी का कम-से-कम व्याज के अनुसार लाभ में भाग हो। प्रवन्धकगण भीकर्मचारी ही माने जायें और उनको भी उनके वेतन के अनुसार लाभ प्राप्त हो।

जवतक कोई कर्मचारी किसी काम-धन्धे में काम करे तवतक ही वह उस काम-धन्धे के लाभ में अधिकारी हो। काम करना छोड़ देने पर स्वाभाविक ही लाभ में उसका भाग समाप्त समझा जाय। प्रवन्ध-निदेशक से आरम्भ कर चौंकीदार, चपरासी तक सब कर्मचारियों के लिए वृद्धावस्था की योजना वनाई जाय। परन्तु वेतन तथा वृद्धावस्था की पैंशन का सम्बन्ध किसी के व्यापार तथा उद्योग-धन्धे में धन लगाने से सम्बन्धित न हो। पूँजी का व्याज अथवा लाभ वेतन और पैंशन से सम्बन्धित न समझा जाय।

इस अर्थ-व्यवस्था में पाँचवीं बात जो हम समझते हैं वह यह है कि रुपये का मूल्य देश के वाहर और भीतर समान न भी न रहे अथवा रहे किन्तु दोनों मूल्यों में किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। विदेश में रुपये का मूल्य देश के व्यापार, जो उस विदेश के साथ होता है, पर निर्भर है। इसका सम्बन्ध देश के भीतर रुपये के मूल्य से नहीं होना चाहिए।

देश के भीतर रुपये का मूल्य अन्न आदि जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के आधार पर हो। इस प्रकार मूल्य पर नियन्त्रण रहेगा यदि छोटी-छोटी इकाइयों द्वारा उत्पादन कराया जाय।

विदेश में रुपये के मूल्य को उचित स्तर पर रखने के लिए विदेशी व्यापार को राज्य नियन्त्रण में रखे।

व्यापार और उद्योग के जितने छोटे-छोटे केन्द्र होंगे उतनी ही अर्थ-व्यवस्था स्वतन्त्र होगी। यह प्रवन्ध सस्ता भी होगा। वड़ी-वड़ी मशीनें सदा महँगी होती हैं। मानव मशीन प्रकृति ने सबसे सस्ती मशीन निर्माण की है।

हमारी योजना तो यह है कि अर्थ व्यक्तिगत परिश्रम की उपज ही है। इस प्रकार यह व्यक्ति भी सम्पत्ति ही है। जहाँ तक सम्भव हो, राज्य व्यक्तिगत परिश्रम पर कर न लगाये। राज्य की आय मुख्यतया प्राकृतिक स्रोतों से उपलब्ध पदार्थों को बेचकर हो।

यह है जीवन को सरस और सुलभ करने का उपाय। हिन्दू समाज इसे करने का यत्न करे तो बहुसंख्यक समाज होने से वह इसे करने में सफल हो जायेगा। इसका लाभ देश के सब नागरिकों को होगा।

: ३ :

हिन्दू समाज एवं अन्य समुदाय

इस परिच्छेद में हम यह बताने का यत्न कर रहे हैं कि इस देश में रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले अन्य समाजों के साथ हिन्दू समाज का सम्बन्ध कैसा हो। इसमें हमने यह बताया है कि देश में हिन्दू समाज राष्ट्र है। इसका अभिप्राय यह है कि देश में व्यवस्था के विषय में हिन्दू समाज का सर्वोपरि हाथ होगा। इसीके अनुरूप हमने बताया है कि वेद अर्थात् ज्ञान का व्यवहार सर्वोपरि हो। देश में विद्वानों के द्वारा ही विधि-विधान और अर्थ-व्यवस्था तथा सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाय। देश में सबके योगक्षेम, खाने, पहरने और सुखपूर्वक रहने का उत्तरदायित्व हिन्दू राष्ट्र का ही हो। इसी कारण देश में सुख-सुविधा का प्रबन्ध देश के राष्ट्र अर्थात् हिन्दू-समाज का हो।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जो कुछ हिन्दू समाज अपने लिए शुभ अथवा योगक्षेम के लिए उपयुक्त समझता है वह देश में रहने वाले किसी दूसरे के लिए नहीं होगा, जो कुछ विधि-विधान हिन्दू समाज अपने लिए ठीक समझेगा वह देश में रहने वाले सबके लिए होगा।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जो कुछ देश की व्यवस्था हिन्दू राष्ट्र समझेगा वह सबके लिए समान होगी।

इसमें आपत्ति यह की जा सकती है कि व्यवस्था निर्माण करने के लिए दूसरों की राय क्यों न ली जाय ? वह हम इस कारण कहते हैं कि हमने हिन्दू मान्यताओं में बुद्धिवाद को सर्वोपरि माना है। यदि दूसरे समुदाय भी बुद्धि के आदेशों को सर्वोपरि मानते हैं तो फिर वे हिन्दू ही हैं। हिन्दू नाम से हम किसी मत-मतान्तर का अभिप्राय नहीं लेते। हिन्दू समुदाय न तो किसी पीर-पैगम्बर के अधीन है, न किसी ऐसी मान्यता के जोकि बुद्धिगम्य न हो। इससे जो अपने गुरु, पीर, पैगम्बर को अपने लिए ही सीमित रखकर राष्ट्र की साँझी बातों के लिए बुद्धि से विचार करने के लिए तैयार हैं वे समुदाय हिन्दू राष्ट्र ही माने जा सकते हैं, और वे उसमें राय दे सकें।

हिन्दू समुदाय में हमने अन्य समुदायों के व्यवहार से सम्बन्धित दो बातों का उल्लेख किया है। उनको स्वीकार करना हिन्दू राष्ट्र में सम्मिलित होने के लिए आवश्यक है। उनमें एक है—**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**

दूसरी बात है—**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**

हिन्दू राष्ट्र में सम्मिलित होने के लिए इन दोनों को मानना आवश्यक है। इनके बिना सहचारिता सम्भव नहीं है। इन महान् विधाओं को मानने वाले ही सहचारिता की आकांक्षा कर सकते हैं।

देश में एक राष्ट्र होने के इन दो आधारभूत सिद्धान्तों को बिना स्वीकार किये हिन्दू राष्ट्र में कोई समझा नहीं जा सकता। और जो मानता है वह हिन्दू राष्ट्र में ही है।

ऐसे राष्ट्र का यह भारत देश है। देश बहुत बड़ा होने से राज्य और व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए इसको कई छोटे-छोटे राज्यों में बाँटा गया है।

इन राज्यों के बँटवारे के विषय में सिद्धान्त यह होना चाहिए था कि ऐसी इकाइयाँ अर्थात् राज्य बनाये जाते जो शासन के विचार से सुविधाजनक समझे जाते। शासन में भाषा एक महान् सहायक साधन है। इस कारण हमारे विचार में देश का राज्यों में बँटवारा भाषा के आधार पर होना चाहिए था। यह तो आरम्भ में ही स्वीकार कर लेना चाहिए था कि शासन में भाषा मुख्य है। इस कारण राज्य भाषा के विचार से बनाये जाने चाहिए थे।

राज्यों का बँटवारा करने से पूर्व भाषा के लक्षण कर दिये जाते तो ठीक था। हम भाषा के लक्षणों में शब्दों की प्रचुरता और विकसित लिपि ये दो बातें अत्यावश्यक अंग मानते हैं। उदाहरण के लिए, काश्मीरी और सिन्धी भाषा को लीजिये। दोनों बोलियाँ हैं, दोनों की ही अपनी लिपियाँ नहीं हैं। इसी प्रकार पंजाबी है। यह नाम की ही एक पृथक् भाषा है। इसमें नब्बे प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। जहाँ तक इसकी लिपि का सम्बन्ध है वह देवनागरी का एक सरलीकृत रूप है। इसी प्रकार व्रजभाषा है, यह भी संस्कृत की ही चेरी है।

कहने का अभिप्राय यह है कि राज्यों के निर्माण से पूर्व भाषा की परिभाषा हो जाती और उन भूमि-खण्डों को ही राज्य माना जाता जिनमें कोई पृथक् शब्दावली वाली भाषा और उन शब्दों को लिखने की कोई विशेष लिपि होती।

भाषा कोई मजहब नहीं है। भाषा मन के भावों को मुख से बोल तथा किसी लिपि में लिख सकने की विधि को कहते हैं। इनके आधार पर देश का राज्यों में बँटवारा होना चाहिए था।

हुआ यह कि कुछ राज्य तो भाषा के रूप में बने, जैसे बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश आदि। परन्तु न तो राज्य का आधार निश्चय किया गया और न ही भाषा के लक्षण स्पष्ट किए गये और देश के नेताओं में स्पर्द्धा और ईर्ष्या के कारण राज्यों का निर्माण होने लगा। यह बात बढ़ती-बढ़ती इतनी अधिक हो गई है कि पूर्वी भारत में आठ-दस राज्य बन गये हैं।

कुछ राज्य तो मजहब को आधार मानकर बना दिए गये हैं। इनमें कश्मीर और पंजाब मुख्य हैं। मेघालय भी मजहब के आधार पर बना राज्य ही है।

इस कारण हमारा यह कहना है कि भारत के राज्य न तो मजहब के आधार पर होने चाहिए, न ही बोलियों के आधार पर। राज्यों का आधार शासन में सुविधा और भाषा उनमें एक अंग मान ली जाती। परन्तु भाषा की परिभाषा होनी चाहिए।

ऐसा नहीं किया गया। तदपि किसी उचित समय पर इस विषय पर पुनः विचार कर लेना ही उत्तम होगा। परन्तु इतना ही करना होगा कि किसी एक राज्य में किसी मजहब विशेष का बहुमत नहीं होने देना चाहिए। यदि राज्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का बँटवारा मजहब के आधार पर किया गया तो पुनः वही स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो किसी समय स्वतन्त्रता से पूर्व हुई थी।

स्वराज्य के आरम्भ में ऐसी एक भूल तो कश्मीर के विषय में की गई थी। प्रथम तो पाकिस्तान ही स्वीकार करना भूल थी। और फिर मजहब के आधार पर भारत के भीतर कश्मीर को एक पृथक् राज्य स्वीकार कर लेना उससे भी बड़ी भूल कही जा सकती है।

कश्मीर के उपरान्त पंजाब का बँटवारा एक अन्य भूल थी। इसके साथ ही पूर्वी भारत में छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण भी भूल ही है। जब देश के पूर्व में और देश के उत्तर-पश्चिम में मजहबी राज्य स्थापित हो गये थे तो उनके साथ लगती सीमाओं पर मजहब के आधार पर राज्य नहीं बनने चाहिए थे। यदि वे मजहब प्रधान थे तो उनकी रूपरेखा को बदलने का प्रयास करना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं किया गया।

इससे किसको हानि हुई ? हमारा सुनिश्चित मत है कि देश के नागरिकों को सामूहिक रूप में भारी हानि हुई है। यह हानि अधिकाधिक होती जा रही है। क्योंकि देश में रहने वाला बड़ा समुदाय हिन्दू समुदाय है, इस कारण हम समझते हैं कि सबसे अधिक हानि हिन्दू समाज को हो रही है। यही कारण है कि हम हिन्दू समाज की रक्षा की विवेचना करते समय इस हानि का उल्लेख कर रहे हैं।

: ४ :

हिन्दू धर्म तथा इस्लाम

इस समय भारत में तीन बड़े समुदाय हैं—हिन्दू, मुसलमान और ईसाई। इनके अतिरिक्त सिख, आगाखानी, पारसी और बहुत कम संख्या में बौद्ध समुदाय भी हैं। सिख, जैन, बौद्ध, पारसी इत्यादि के विषय में हम पृथक् लिखेंगे। पहले ईसाई और मुसलमानों के विषय में लिखना चाहते हैं।

इस्लाम के भारतीय समाज पर आघात को सन् ७१२ ई० से आरम्भ समझा जाता है। परन्तु तब का प्रभाव शीघ्र ही विलीन हो गया था। यद्यपि सन् ७१२ में भी आक्रमण में राजनीतिक कारणों के साथ मजहब के विस्तार का भी लक्ष्य था। इस कारण जब राजनीतिक प्रभाव क्षीण हुआ तो मजहबी प्रभाव भी क्षीण हो गया।

परन्तु जब सन् १००८ में राजा आनन्दपाल की महमूद गजनी से पराजय हुई तो महमूद ने अपनी राजनीतिक विजय और मजहबी विजय के दो पृथक्-पृथक् रूप निर्माण करने का यत्न किया। इस बार उसने पीर दाता गंद बख्श नामक एक पीर को लाहौर के हाकिम के अतिरिक्त यहाँ पर बैठा दिया। उसने लाहौर में अपना एक इदारा स्थापित किया। वह इदारा देखने में लाहौर के सूबेदार से पृथक् था किन्तु वास्तव में ये दोनों परस्पर पूरक ही थे। यह सिन्ध पर अरबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमण से एक पृथक् बात था।

दाता गंद बख्श की ख्याति धीरे-धीरे मुसलमान आक्रमणकर्ताओं से पृथक् होती गई। हम समझते हैं कि राज्य-बल से पोषित परन्तु प्रत्यक्ष में पृथक् मजहब का प्रचार सबसे पहले इस पीर ने आरम्भ किया था। ऐसा माना जाता रहा है कि इस पीर की रूहानी विशेषता का प्रभाव लाहौर और उसकी आसपास की हिन्दू जनता पर भी होने लगा था।

इसका अभिप्राय हम यह समझते हैं कि हिन्दू समाज में उस समय तक किसी प्रकार की खराबी प्रविष्ट हो चुकी थी। उसके कारण ही इस्लामी हीन जीवन मीमांसा का प्रभाव हिन्दू जनता पर होने लगा था।

हमारा विचार है कि इसके मूल में हिन्दू समाज की जन्म से वर्णधर्म की मान्यता और स्त्री समाज की सर्वथा हीन बौद्धिक अवस्था ही थी। लाहौर स्थित दाता गंद बख्श की ख्याति हिन्दू समाज की श्रेष्ठता से सर्वथा अनभिज्ञ समाज को प्रभावित कर सकी थी।

तदपि इसका प्रभाव गौरी इत्यादि अफगानों के आक्रमण के समय हुआ था। सन् १००८ से लेकर सन् ११७५ के बीच के काल में हिन्दू समाज मे उत्पन्न दुर्बलता में इन पीर-पैगम्बरों का पर्याप्त हाथ था।

पठानों और मुगलों के राज्य में भी इन पीर-पैगम्बरों ने भोली-भाली हिन्दू जनता को भ्रमित करके मुसलमानों के पक्ष में करने में पर्याप्त प्रयत्न किया था। अजमेर तथा लाहौर के मिया मीर की दरगाहों ने इस दिशा में बहुत प्रचार किया था। इस काल में जहाँ-जहाँ मुसलमानी राज्य जाता था वहीं मुल्ला-मौलाना राज्य की महिमा को बढ़ाने के लिए यत्न करते रहते थे। उन दिनों घूम रहे पीर मुर्शिद एक ओर तो इस्लामी सेना को इस्लामी शासकों के अधीन रखने का यत्न करते रहते थे, वहाँ भूले-भटके हिन्दू बेखबर घटकों को भी मुसलमान बनने के लिए प्रेरित करते रहते थे। इस्लाम के इस अंग ने ही बहुत सीमा तक अकबर को हिन्दुओं की ओर झुकने से रोका हुआ था।

यह कहने से हमारा अभिप्राय यही है कि यद्यपि मुसलमानी शासन कुछ परिवारों का ही शासन कहा जाता है, वास्तव में यह ऐसा था नहीं। मुसलमान शासक-परिवार इस्लामी मजहबी नेताओं से भरपूर सहायता लेते थे और फिर इस्लामी मुल्ला-मौलाना इस्लाम के विस्तार के लिए राजनीतिक प्रभुत्व पूरा-पूरा लाभ प्राप्त करते थे।

इस्लाम अपने जन्म-काल से ही दो टाँगों पर चलता रहा है। राजनीतिक शक्ति और मजहबी प्रचार। यह माना जाता है कि इन इस्लामी पीरों का हिन्दू समाज पर अति न्यून प्रभाव था। इसपर भी इन पीरों का देश में रहना दो काम तो करता ही था। एक तो मुसलमान सैनिकों की क्रूरता को पवित्र बताते रहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरे निम्न जाति के हिन्दुओं को श्रद्धा में शिथिल करते रहना।

यहाँ पर हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम मजहब और धर्म को भिन्न-भिन्न मानते हैं। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण से होता है और मजहब कुछ रहन-सहन के विधि-विधानों और कुछ श्रद्धा से स्वीकार की गई मान्यताओं का नाम है। आचरण में भी जब बुद्धि का बहिष्कार कर केवल श्रद्धा के अधीन स्वीकार किया जाता है तो वह मजहब ही कहाता है। मजहब कभी भी व्यक्ति की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का सूचक नहीं होता। वह सदा पतन का ही सूचक होता है। कभी संगठन के लिए मजहबी मान्यतायें सहायक हो जाती हैं। परन्तु वह सहायता सदा अस्थायी होती है और जो मानसिक दुर्बलतायें तथा मूढ़ता उत्पन्न होती है, वह घोर पतन का कारण बनती है।

श्रद्धा पर आधारित समाज निरन्तर पतन की ओर ही जाता दिखाई देता है। जब श्रद्धा बुद्धि के अधीन की जाती है अर्थात् श्रद्धा की बातों को समय-समय पर बुद्धि की कसौटी पर कस-कसकर उसमें संशोधन किया जाता रहता है, वह बुद्धिवाद कहाता है। वह प्रगति का सूचक है।

इस्लाम में ईश्वरीय कार्यों में अक्ल को दखल देना कुफ्र माना जाता है। इस कारण इस्लाम निरन्तर पतन की ओर जा रहा है। इसमें विशेषता है कि बुद्धिविहीनता के साथ बनी श्रद्धा के साथ प्रत्येक प्रकार का बल सहायक होता है और इस बल का संचय करने के लिए प्रत्येक प्रकार के इन्द्रिय सुखों का प्रलोभन दिया जाता है।

इस प्रकार इस्लाम की गाड़ी चल रही है। गाड़ी दो चक्कों पर चल रही है। एक ओर सब प्रकार के इन्द्रिय सुखों का प्रलोभन है और दूसरी ओर इस्लाम के नाम पर किये गये सब प्रकार के अत्याचारों का पुरस्कार खुदा की ओर से बहिश्त दिया जाना बहुत बड़ी आशा है।

यह गाड़ी कबतक चलती रहेगी, यह बता पाना कठिन है। परन्तु वर्तमान में बुद्धिशीलों के लिए यह एक भयंकर भय का कारण बना हुआ है। भय यह है कि श्रद्धा में बँधे हुए और अज्ञानता में किये प्रत्येक प्रकार के पाप-कर्म का बहिश्त में मिलने वाले ऐश और आराम का प्रलोभन भले लोगों की चीख-पुकार को कुण्ठित कर रहा है।

हिन्दू समाज ने इस श्रद्धावाद का विरोध श्रद्धा से ही करने का यत्न किया है। वह प्रयास आज भी उसी रूप में जारी है किन्तु अभी तक यह प्रयास सफल नहीं हो पाया है। श्रद्धा का श्रद्धा से विरोध केवल एक बात में सफल हो पाया है। वह यह कि इस्लाम की श्रद्धा भारत में उस गति से और उस सीमा तक सफल नहीं हुई जिस सीमा तक यह अन्य देशों में हुई है। परन्तु धीरे-धीरे श्रद्धा की यह भित्ति गिरती जा रही है और जनसंख्या में हिन्दू-मुसलमान का अनुपात हिन्दुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विरुद्ध जा रहा है।

अंग्रेजी काल में इस्लाम के मानने वालों का अनुपात तो मुगल और पठानों के काल से भी अधिक तीव्र गति से बढ़ता जा रहा था। इसका कारण है। वह कारण है योरोपियन रेंश्नेलिज्म। इसे योरोपियन बुद्धिवाद भी कहा जा सकता है। वास्तव में यह बुद्धिवाद नहीं है। यह तो एक प्रकार की मूढ़ता को छोड़कर दूसरी प्रकार की मूढ़ता को ग्रहण करना है।

एक उदाहरण देकर हम इस बात को समझाना चाहते हैं। हिन्दुओं में किसी युग में सती प्रथा प्रचलित थी। जिन लोगों को उस काल का कुछ भी ज्ञान है वे यह बता सकते हैं कि सती प्रथा की व्यापकता तो दूर की बात है, वह केवल नाम-मात्र की ही प्रथा थी। जो महिलायें विधवा हो जाती थीं उनमें सती होने वाली कदाचित् एक प्रतिशत भी नहीं होती थीं। कोई विरला ही महिला होती थी जो सती हो जाया करती थी।

इन सती होने वाली महिलाओं में हम उनकी गणना नहीं करते जो किसी विधर्मी की विजय के समय उनके द्वारा किये जाने वाले बलात्कार के भय से सती हो गई थीं। वह तो एक सीमा तक देश-विभाजन के समय पंजाब में भी हुआ था। यह किसी रीति-रिवाज के कारण नहीं किया गया था। उन्होंने इसकी आवश्यकता को अनुभव किया और वे सती हो गईं।

इसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि सती की प्रथा तो विद्यमान थी, किन्तु यह अनिवार्य नहीं थी। ऐसा तो कभी-कभी व्यापार में अत्यधिक हानि होने पर पुरुष भी निराश होकर आत्महत्या कर लिया करते हैं। स्वेच्छा से की जाने वाली आत्महत्या में कभी-कभी सार्वजनिक प्रशंसा अथवा दबाव भी होता देखा जाता था, परन्तु यह बात बिरली ही होती थी।

ईसाई पादरियों ने इसे प्रचार का माध्यम बनाकर हिन्दू समाज की निन्दा करनी आरम्भ की और उसके आश्रय पर ईसाइयत का प्रचार करना आरम्भ किया। परन्तु अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग आज भी इसको समाज का एक महान् दुर्गुण बता रहे हैं। इस प्रकार अनजाने में ही हिन्दू समाज की अन्य अनेक अच्छी बातों को छिपाये रखने में साधन बन रहे हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम सती प्रथा को मान्यता देना चाहते हैं अथवा उसका पुनर्प्रचलन करना चाहते हैं। हमारी दृष्टि में तो यह हिन्दू समाज का ऐसा व्यवहार है जोकि अन्ध श्रद्धा पर आधारित था। सती प्रथा जिसे जौहर कहा जाना चाहिए उसके सम्मुख हम नतमस्तक हैं। जौहर बुद्धि-गम्य है जबकि मात्र सती हो जाना कोरी अन्ध श्रद्धा है।

इसी प्रकार मूर्ति पूजा का प्रश्न है। मूर्ति पूजा पर श्रद्धा करना एक प्रकार से हीन प्रथा है। परन्तु मूर्ति पूजा का बौद्धिक रूप भी है। हम उसको स्वीकार करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। जब कभी भी हम नरसिंह अवतार को हिरण्यकश्यपु का पेट फाड़ते हुए का चित्र देखते हैं तो हमको मेजिनी और गैरीबाल्डी का शौर्यपूर्ण कृत्य स्मरण होने लगता है। इन दोनों ने जनता के बल के आधार पर इटली से ऑस्ट्रिया वालों को खदेड़कर बाहर कर दिया था। इसके स्मरण आते ही नरसिंह को इसी रूप में स्मरण कर उसके सम्मुख हाथ जोड़कर प्रणाम करने को मन करता है। यह है मूर्ति पूजा का बौद्धिक रूप।

जब राम और लक्ष्मण को धनुष-बाण कन्धे पर लिये सीता के साथ वन में विचरण का चित्र देखते हैं तो रावण तथा उसके जैसे अन्य राक्षसों के अत्याचार से पीड़ित बनवासियों को स्मरण कर राम और लक्ष्मण के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। यह है मूर्ति पूजा का बौद्धिक रूप।

ईसाइयों ने हिन्दुओं के इन रिवाजों को निन्दनीय कहना आरम्भ किया। अंग्रेजी शिक्षा ने इसको मिथ्या श्रद्धा कहकर हिन्दू युवकों को इनके विपरीत करने का यत्न किया। क्योंकि हिन्दू समाज इसका बौद्धिक रूप न समझ सका और न समझा ही सका। सरकारी शिक्षा प्राप्त करने वाले हिन्दू युवक हिन्दुओं की इन प्रथाओं को मूर्खता कहने लगे तो हिन्दू समाज अपने ही घटकों को इनकी बौद्धिकता का बखान नहीं कर सका। उसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण किया भारतीय युवक हिन्दू रीति-रिवाजों को मूर्खता मानने लगा और इस प्रकार हिन्दुओं की जनसंख्या का अनुपात कम होने लगा।

अंग्रेजी काल में मुसलमानों की संख्या बढ़ने का यही मुख्य कारण रहा है। इस पूर्ण विवेचना का अभिप्राय यह है कि अंग्रेजी राज्यकाल में हिन्दुओं अनुपात में से मुसलमानों की संख्या में वृद्धि का मुख्य कारण तत्कालीन शिक्षा थी। उस शिक्षा के साथ हिन्दू समाज अपने रीति-रिवाज में बौद्धिक आधार का विश्लेषण करने में असमर्थ रहा। वह श्रद्धा का ही राग अलापता रहा।

हम ही एक उदाहरण से इस बात को और अधिक स्पष्ट करना चाहेंगे। कुछ वर्ष पूर्व हमें गोरखपुर जाने का अवसर सुलभ हुआ था। वहाँ हम गीता भवन देखने गये। भवन की दीवार के साथ भगवान् कृष्ण की जन्म-लीला के बहुत ही सुन्दर चित्र सजाए गये हैं। हम उस हाल के एक छोर से दूसरे छोर तक सारे चित्रों को देखते चले गये। कृष्ण के जन्म से आरम्भ कर कंस की हत्या तक ही वे चित्र थे।

उन सब चित्रों को देखकर हम विस्मय करने लगे कि आज पाँच सहस्र वर्ष तक भी कृष्ण क्या इस बाल लीला के आधार पर ही स्मरण किए जाते हैं? ये लीलायें सत्य हो सकती हैं किन्तु कृष्ण की विश्व की ख्याति की वे मुख्य कारण नहीं हो सकतीं।

कृष्ण का वास्तविक सक्रिय जीवन तो उस समय से आरम्भ हुआ मानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए जब उन्होंने युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के लिए प्रेरित किया था। कृष्ण के जीवन का सुकीर्तिकर कर्म तो वह था जब उसने वचन-भंग करने वाले परिवार के सभी सदस्यों को सुदर्शन चक्र से मृत्यु के घाट उतार दिया था। कृष्ण ने तब यह सिद्ध कर दिया था कि वह जो कहता है उसपर आचरण भी करता है। उसने कहा था—

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात् यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न मरता है। ऐसा भी नहीं कि जब एक बार अस्तित्व में आ गया तो फिर दोबारा आयेगा ही नहीं। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीर का वध हो जाने पर भी यह मरता नहीं है।

जब बन्धु-बान्धवों ने भी वही करना आरम्भ किया जो दुर्योधनादि ने किया था तो उसने जो अपने बन्धु-बान्धवों के साथ करने को अर्जुन को कहा था वही स्वयं भी किया। वह था कृष्ण का बौद्धिक व्यवहार। हम समझते हैं कि वर्तमान कठिनाई में भी जाति को इस प्रकार के बौद्धिक व्यवहार की ही प्रेरणा दी जानी चाहिए। इस व्यवहार से इस्लाम जैसी निकृष्ट जीवन-मीमांसा से सुगमता से पार पाया जा सकता है।

हम समझते हैं कि हम अपनी उन सब मान्यताओं को, जिनका आधार बुद्धिवाद है, लेकर हिन्दू जाति के द्वार खोल दें और सबको अपने समाज में समा जाने के लिए आमन्त्रित करें। इस प्रकार सहज ही समाज की सुरक्षा का प्रबन्ध हो सकता है।

हम किसी को अपनी मान्यता छोड़ने की बात नहीं कहते। उनके पीर-पैगम्बरों की यदि कोई बात बुद्धि-गम्य हो तो उसको भी छोड़ने के लिए हम नहीं कहते। परन्तु मूढ़ श्रद्धा के सम्मुख हम बुद्धिवाद का बलिदान नहीं कर सकते।

बुद्धि की दृढ़ चट्टान पर स्थित होकर हम अपने मार्ग पर चलने लगे तो सुख और शान्ति निश्चित है।

: ५ :

ईसाई समुदाय

भारत को दूसरी बीमारी लगी है ईसाइयत की यह बला सहिष्णुता का आवरण डालकर भारत में प्रविष्ट हुई थी। बहुत पहले पुर्तगाली आये। वे अपने साथ उन पादरियों को भी ले आये जो कहा करते थे कि असभ्य जन समाज को इहलौकिक और पारलौकिक सुख-सुविधा दिलाना उनका कर्तव्य है।

अफरीका तथा दक्षिणी अमेरिका में इन पादरियों का उन लोगों से पाला पड़ा था जो उनकी बात को समझते ही न थे और न वे अपनी बात उनको समझा सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। इन दोनों देशों में मात्र जंगली समाज ही नहीं था अपितु वहाँ कुछ सभ्य लोग भी थे। परन्तु पुर्तगालियों ने बिना दूसरों की बात को सुने अथवा समझे उनको ईसाई धर्म की दीक्षा देने का यत्न किया। जो इन पदारियों को साथ लेकर गये थे वे स्वयं तो उन देशों में लूटमार करने के लिए गये थे। इस कारण अफरीका और दक्षिण अमरीका में संघर्ष अवश्यम्भावी था। वह संघर्ष हुआ किन्तु वहाँ की जनता पुर्तगालों के साथ बौद्धिक संघर्ष नहीं कर पाई। राजनीतिक संघर्ष में उनकी जीत हुई जो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे।

भारत में भी यह हुआ। पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज इस प्रकार एक के बाद एक आये। वे आये तो थे यह सोचकर कि इस देश की जो भी धन-सम्पदा है उसको लूटकर अपने-अपने देश को कूच कर जायें। यहाँ पर भी वे अपने साथ पादरियों को लाये थे। यहाँ पर भी उनका उद्देश्य भारतीय 'असभ्य' समाज को 'सभ्यता' का पाठ पढ़ाना था। यहाँ आकर उनको विदित हुआ कि वे जिनको पाठ पढ़ाने के लिए आये हैं वे तो पहले से ही उनसे कहीं अधिक सभ्य और समझदार हैं।

सब स्थानों पर तथा समाजों में मूर्ख और बुद्धिविहीन लोग भी होते हैं। इसलिए जब अधिकारियों ने राजनीतिक चालबाजी से व्यापार आरम्भ किया तो उनके साथ आये उनके गुरु पादरियों ने समाज के निम्न वर्ग के लोगों को भड़काना आरम्भ किया कि उनके साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है।

उस समय भारत का हिन्दू समाज मुसलमानों से संघर्ष कर रहा था। वे उन निम्न स्तर के लोगों पर उस समय ध्यान ही नहीं दे पाये। मुसलमानों के पाँव उखड़े ही थे कि यहाँ योरोपियन लोगों ने अपनी जड़ जमानी आरम्भ कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि बन्दर-बाँट में अंग्रेज यहाँ पर अपना राज्य जमाने में सफल हो गया। तदपि पादरियों का यहाँ आना फलीभूत नहीं हो रहा था।

ऐसे में बंगाल के गवर्नर की कौंसिल के एक सदस्य मैकाले को यह सूझा कि यहाँ के युवकों की शिक्षा इन पादरियों के अधीन कर दी जाय। इसके लिए उसने अपनी सरकार के समक्ष प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि बंगाल के युवकों की शिक्षा राज्य सरकार के अधीन कर दी जाय। मैकाले का यह विचार था कि इस शिक्षा के आधार पर पादरियों के परिश्रम के बिना ही भारतीय युवक-युवतियों को अपने धर्म से सरलता से विमुख किया जा सकेगा।

ब्रिटिश पार्लियामेंट में दो पक्ष थे। एक पक्ष तो चाहता था कि शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण में कर लिया जाय और दूसरा पक्ष इसे स्वतन्त्र ही रखना चाहता था। दोनों की युक्ति का आधार समान था। वह था अंग्रेजी शासन का बना रहना। इस शिक्षा के देने अथवा न देने में उनको भारतवासियों के किसी प्रकार की कल्याण की भावना नहीं थी। दोनों का उद्देश्य तो एक ही था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह था भारत में ब्रिटिश शासन की नींव को सुदृढ़ करना।

मैकाले अपनी बात मनवाने में सफल हो गया था। बस फिर क्या था, सरकार की ओर से पाठशालायें और विद्यालय तथा महाविद्यालय खुलने आरम्भ हो गये। यह योजना सन् १८३२ में स्वीकार हुई थी, किन्तु इसपर कार्य होते-होते सन् १८३७ आ गया था। उसका परिणाम यह हुआ कि मैकाले की शिक्षा आरम्भ होने के एक सौ वर्ष बाद भारत के हिन्दू, मुसलमान परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध के लिए कमर कसने लग गये। अंग्रेजी सरकार इसी अवसर की तलाश में थी। उसने दोनों समुदायों की पीठ थप-थपाकर उनको युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया।

ऐसे हिन्दू जिनमें कुछ हिन्दू आचार-विचार अवशिष्ट था वे अंग्रेजी राज्य को चुनौती देने लगे। परन्तु अंग्रेजी आचार-विचार के हिन्दू जोकि अंग्रेजी शिक्षा से सराबोर थे, अंग्रेजों की चिरौरी करने लगे।

सन् १९२० तक यह दुरवस्था रही। उस समय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर गांधी का आविर्भाव हुआ। गांधीजी अपनी प्रकार के अनोखे ही व्यक्ति थे। वे अंग्रेजी चाल-ढाल के भक्त, परन्तु भारतीय सन्तों की भाँति लँगोटा धारण किये हुए स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। गांधीजी की निष्ठा पर हम कुछ कहना नहीं चाहते। परन्तु क्या यह उस पादरी की ही नकल नहीं थी जोकि भगवे वस्त्र धारण कर गले में रुद्राक्ष की माला डाले हजरत ईसा की भेड़ों की संख्या बढ़ाने में कार्यरत था। हमारा अभिप्राय है कि यह छलना राजनीतिक क्षेत्र में ही थी।

हिन्दू राजनीति और धर्म के विषय में गांधीजी सर्वथा अज्ञ के समान थे। वह गीता तो पढ़ते थे किन्तु विचार उनके वही थे जो मन भर बुद्धि को तोला भर श्रद्धा से कम समझते थे। अपनी प्रार्थना सभा में नित्य वह गाया-गवाया करते थे :

रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम।

परन्तु राम और कृष्ण को वह ऐतिहासिक पुरुष मानते ही नहीं थे। उनका कहना था कि ये कथानक तो मानव मन के भीतर संघर्ष के द्योतक हैं।

महात्मा गांधी स्वयं तो राम नाम गाया करते थे किन्तु वे सदा ही शौकत अली और मोहम्मद अली के संकेतों पर नर्तन करने के लिए उद्यत रहते थे। इसमें हम महात्मा जी की छलना नहीं देखते हैं। वे तो वास्तव में मैकाले की शिक्षा की उपज थे और उसी दृष्टि से यह सब देख और कर रहे थे। यह मैकाले की शिक्षा का ही दुष्परिणाम था जो उनकी कथनी और करनी में विभेद करवा रही थी। हिन्दू समाज तन, मन, धन से इस लँगोटीधारी मैकाले के शिष्य के पीछे लग गया। और आज तो यह कहा जाता है कि गांधीजी ने अंग्रेजों से राज्य छीनकर भारत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासियों को दिलवा दिया है।

यह पुस्तक इस विषय का विवेचन करने के लिए नहीं लिखी जा रही है। हमारा विवेच्य विषय यह नहीं है। यहाँ हमारा कहने का केवल इतना ही अभिप्राय है कि महात्मा गांधी अपने इस प्रयत्न में सफल हो गये कि भारत के राज्य शासन की वागडोर नेहरू के हाथ में आ जाये। उसके उपरान्त नेहरू ने अपनी पुत्री को इसके लिए तैयार कर लिया था। इन दोनों के शासनकाल में आज हिन्दू समाज को चारों ओर से भय और संकट के घेरे में घेर लिया है।

गांधी और नेहरू की छत्रछाया में इस देश का हँसते-हँसते विभाजन हो गया। हिन्दू-समाज स्वयं अपनी इच्छा से गौ-मांस बेच-बेचकर और शराब पी-पी कर रंगरलियाँ मनाने लगा। मुसलमानों को पृथक् राज्य दे देने के उपरान्त भी और पाकिस्तान से लगभग हिन्दुओं का सफाया कर दिये जाने के बाद भी भारत में मुसलमानों के अनुपात में हिन्दुओं की संख्या घटती जा रही है। इसी प्रकार ईसाई जनसंख्या भी तीव्रगति से बढ़ती आ रही है।

यही कारण है कि जहाँ हमने हिन्दू समाज की नींव को बौद्धिक मान्यतायें बताया है वहीं हमने हिन्दू समाज को उस राजनीतिक बन्धन से मुक्त करने की बात कही है जो हमारी सरकार ने अंग्रेजों से सीखकर यहाँ पर चालू की हुई है।

यह मिथ्यावाद है। अंग्रेजों की उन गतिविधियों से यहाँ पर अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ था। इस प्रकार फिर डेढ़ सौ वर्ष तक वह यहाँ राज्य करता भी रहा था।

हम चाहते तो यही हैं कि प्रजातन्त्र द्वारा स्थापित सरकार की हिन्दू समाज सहायता करे। परन्तु जहाँ हम प्रजातन्त्रवाद को दोषरहित करना चाहते हैं वहाँ हम यह भी चाहते हैं कि इस प्रकार स्थापित राज्य हिन्दू समाज की प्रगति में बन्धन न हो।

अंग्रेजी शिक्षा से ओत-प्रोत वर्तमान शासन हिन्दू समाज के सब सद्गुणों को विदेशी हीन जीवन-मीमांसा में विलीन करने में लगा हुआ है। इसको रोकने के उपाय पर ही यहाँ पर विचार व्यक्त किये जा रहे हैं। हमारी आपत्ति यह है कि वर्तमान सरकार ने कुछ कार्य अपने हाथ में ले रखे हैं जो हिन्दू समाज को स्वयं करने चाहिए। सरकार ऐसे कार्य कर रही है जिनसे जनता में अशुद्ध व्यवहार प्रचलित हो रहा है। राजनीतिक कारणों से कुछ एक समाजों के अन्यायाचरण पर पर्दा डाल रही है। राज्यारूढ़ रहने की क्षमता प्राप्त करने के लिए अधर्माचरण का आश्रय ले रही है।

हम राज्य को पलटने की बात नहीं कर रहे हैं। हमारा यत्न तो इसके दृष्टिकोण को बदलने के लिए चल रहा है, जिससे कि यह अयुक्तिसंगत व्यवहार न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सके।

हम चाहते हैं कि सरकार मुसलमानों और ईसाइयों के विषय में अपने विचार स्पष्ट करे। वनवासियों में आर्थिक उन्नति के नाम पर सरकार ईसाइयों को ईसाइयत के प्रचार-प्रसार की सुविधा प्रदान कर रही है। इसी प्रकार मुसलमानों के साथ अपने सुखद् सम्बन्ध बनाने के लिए देश के मुसलमानी काल के इतिहास में हेर-फेर करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर रही है।

इतिहास लिखना अथवा लिखाना सरकार का काम नहीं है। न ही यह वर्तमान विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले लोगों का काम है। आज देश के सभी विश्वविद्यालय राज्य की कृपा का फल भोग रहे हैं। उनमें कार्य करने वालों को हम सरकारी कर्मचारी ही मानते हैं। कुछ तो मैकाले की शिक्षा ने उनकी बुद्धि को विकृत किया हुआ है और जो शेष रह गया है, उसको राजसी धन उनकी मति भ्रष्ट करने में सहायक हो रहा है।

जब कोई राज्याधिकारी संसद् में यह घोषणा करता है कि वर्तमान इतिहास से देश में वैमनस्य फैलता है तो वह राज्य करने में सुविधा प्राप्त करने के लिए इतिहास जैसे ग्रन्थों में हेराफेरी करने के लिए प्रोत्साहन देता है।

इस प्रकार मुसलमानी काल में जो कुछ मुसलमान शासन ने हिन्दुओं पर अत्याचार किया था उसके पुनः न किये जाने का यत्न नहीं किया जा रहा है। वरन् अत्याचार करने वालों के कामों पर पर्दा डालकर वैसे ही कुकृत्य की पुनरावृत्ति के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। यह इसी प्रकार है जिस प्रकार किसी हत्यारे की हत्या को हत्या न कहकर यह कह दिया जाय कि हत्यारा तो वास्तव में मृतक से प्रेम प्रकट कर रहा था, उस प्रेम-प्रलाप में ही हत्या हो गई है।

वास्तविकता क्या थी यह सिद्ध करना राज्य का कार्य नहीं है। राज्य का काम तो प्रमाण मिल जाने पर हत्यारे का दण्ड देना और मृतक के परिवार को उसकी हत्या से हुई हानि को न केवल प्रतिकार देना अपितु कुछ इस प्रकार की स्थिति निर्माण करना भी है कि जिससे पुनः वैसी घटना घटित न हो।

क्या यह विस्मयकारक नहीं है कि एक ओर तो हिन्दू समाज कुतुब मीनार और ताज के विषय में उनके वर्तमान नाम और प्रयोग को चुनौती दे रहे हैं और दूसरी ओर भारत सरकार इनको मुस्लिम मजहबी इदारे घोषित कर यहाँ शुक्रवार के दिन नमाज इत्यादि पढ़ने के लिए विधान कर रही है ?

साथ ही उन पवित्र हिन्दू स्थानों को जिनपर मुसलमानी राज्यकाल में मुसलमानों ने अधिकार कर लिया था उनको मोहरबन्द कर किसी हिन्दू को वहाँ जाने से वंचित कर रही है।

इस प्रकार की अनेक बातें हैं जो कि हिन्दू समाज के करने की हैं किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य ने बलपूर्वक उनको अपने अधिकार में किया हुआ है।

: ६ :

हिन्दू समाज

भारत में सबसे बड़ा जो समाज है वह हिन्दू समाज है। इस समाज के साथ भी राजनीतिक लाभ के लिए सौतेली सन्तान जैसा व्यवहार किया जा रहा है।

उदाहरण के रूप में अछूतों के विषय में सरकार का व्यवहार है। जब किसी परिवार के एक घटक के साथ राज्य अनधिकारयुक्त व्यवहार करने लग जाय तो उसका सीधा परिणाम यह होता है कि वह विशेष सुविधा पाने वाला घटक शेष परिवार का शत्रु बन जाता है। अनायास और अकारण ही उसके मन में यह विचार उत्पन्न होने लगता है कि सत्य ही उसके परिवार के लोग उसकी योग्यता का अनुमान ठीक नहीं लगा रहे हैं और परिवार में रहते हुए वह जो कुछ भी प्राप्त कर रहा था, उसके अधिकार से वह बहुत ही कम था। अपने सहायक ढूंढ़ने के लिए यह बात भी अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में प्रचलित की थी।

इस देश में अंग्रेजी शासन के स्थापित होते ही इस देश के मुख्य समाज अर्थात् हिन्दू समाज में अंग्रेज के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गई थी। यहाँ हिन्दू समाज सबसे बड़ा समाज था। इस कारण एक विदेशी शासक के लिए यह स्वाभाविक व्यवहार था कि वह अपने विरोधियों में फूट डलवाये। अंग्रेज ने हिन्दू समाज के विरुद्ध मुसलमानों को भड़काने का यत्न किया और सिखों में भी हिन्दुओं के विपरीत वैमनस्य उत्पन्न करने के लिए बहुत जोड़-तोड़ लगाये। इसी प्रकार अछूतों को हिन्दुओं से विमुख करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया।

अंग्रेज के लिए यह करना ठीक था अथवा कि नहीं, यह इस पुस्तक का विवेच्य विषय नहीं है, परन्तु वर्तमान सरकार जो देश की जनता का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रही है, उसका यह कार्य नहीं है कि वह देश के सबसे बड़े समुदाय में फूट डलवाने के लिए अवांच्छनीय व्यवहार करे।

हम अछूतों की छुआछूत को हटाने से मना नहीं कर रहे हैं। हमारा तो यह कहना है कि क्योंकि किसी काल में देश में यह समुदाय अस्पृश्य माना जाता था इस कारण आज उसे किसी विद्वानों की सभा में प्रधान बनाकर बैठाने के लिए कानून बनाया जाय, यह अशुद्ध है। किन्तु हो तो ऐसा ही रहा है। क्योंकि सन् १९०५ में रामू का लड़का माधो किसी ब्राह्मण को छू देता था तो ब्राह्मण देवता स्नान करने के उपरान्त ही स्वयं को अपवित्रता के कलंक से मुक्त कर पाता था, इस कारण आज सन् १९८३ में माधो के पुत्र बिन्दू को मैट्रिक में फेल होने पर रियायती अंक देकर उत्तीर्ण घोषित किया जाय। आज भारत में कुछ इसी प्रकार का व्यवहार हमारी सरकार कर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका सीधा परिणाम यह हो रहा है कि माधो का बेटा बिन्दू पण्डित जी के पर-पोते को गालियाँ देता है और राजकीय कर्मचारियों की सहायता से माधो को उद्धृत समझने वालों के परपोतों को अपने अधिकार से वंचित किया जा रहा है और उसके स्थान पर अशिक्षित बिन्दू को शासन करने की सुविधा दी जा रही है।

इस प्रकार उस तथाकथित अछूत समुदाय का मुख्य समुदाय अर्थात् हिन्दू समुदाय से द्वेष बढ़ रहा है।

हिन्दू समाज में सिख समुदाय का प्रश्न तो अछूतों से भी भयंकर होता जा रहा है। सिखों में अकाली समुदाय युद्ध की ओर अग्रसर है। यह समस्या क्या है? इसका विश्लेषण भी राज्य की राजनीति की गली के अन्तिम छोर तक जा पहुँचा है।

वास्तव में यह रोग भी अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजों द्वारा उत्पन्न किया गया था। अंग्रेजी सरकार को जब लगा कि भारत में उसके पाँव लड़खड़ाने लगे हैं, तो उसने एक ओर तो मुसलमानों को और दूसरी ओर अछूतों को और तीसरी ओर सिख समुदाय को हिन्दुओं से पृथक् कर उसके विरुद्ध अंग्रेजों का सहायक बनाने का यत्न किया। यद्यपि इसमें अंग्रेजी सरकार को उतनी सफलता तो नहीं मिली जितनी कि मुसलमानों के विषय में मिली थी। मुसलमानों की पृथक् देश की माँग तो स्वीकार करनी पड़ रही थी परन्तु सिखों की इस प्रकार की माँग को अंग्रेज भी स्वीकार नहीं कर पा रहे थे।

उसका कारण स्पष्ट था। वह यह कि पंजाब में कोई भी जिला ऐसा नहीं था जहाँ सिख समुदाय दूसरों से अधिक संख्या में होता। अतः सिखों की यह माँग कि उनका पृथक् देश हो, माउण्टबेटन स्वीकार नहीं कर सका।

अंग्रेज जिस बात को करना चाहते हुए भी कर नहीं सके उसी को वर्तमान सरकार करने के लिए उद्यत होती दिखाई दे रही है। सबसे पहले भारत सरकार ने सिख अल्पसंख्यक राज्य का विभाजन कर सिख बहुल राज्य की स्थापना की। उसका ही यह दुष्परिणाम है कि आज सिख पृथक् देश की माँग करने लगे हैं। ऐसा भी सन्देह है कि कुछ विदेशी सरकारें उनकी इस माँग का भीतरी समर्थन कर रही हैं। उसका भी कारण है। किन्तु वह इस पुस्तक का विषय नहीं है, अतः हम उसका उल्लेख नहीं कर रहे।

तदपि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि जब केन्द्रीय काँग्रेस की स्थिति दुर्बल होने लगी थी तो पंजाब का विभाजन कर स्थिति को सुधारने का यत्न किया गया था। एक ओर पृथक् राज्य, जिसमें सिख अल्पसंख्यक से बहुसंख्यक हो गये, बनाकर सिखों का समर्थन प्राप्त किया गया और दूसरी ओर एक ऐसा राज्य, जिसमें दल-बदलुओं की बीमारी देश में सबसे अधिक है, निर्माण कर दिया गया।

किन्तु क्या यह तुष्टीकरण की नीति किसी प्रकार का कोई स्थायी प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न कर सकी ? नहीं, किंचित् भी नहीं। जिनको अनायास और अनधिकार लाभ एक बार प्राप्त हो जाता है वे फिर उसके अभ्यस्त हो जाया करते हैं। इसका प्रमाण है सिखों का वर्तमान आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव, जिसकी दुहाई दी जा रही है।

कश्मीर के विषय में सरकार इस नीति का परीक्षण कर चुकी है। वहाँ भी सरकार को सफलता नहीं मिली। शेख अब्दुल्ला कश्मीर के लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर कश्मीर को ही पृथक् देश बनाने का यत्न करने लगा था। किन्तु केन्द्र में उस समय विद्यमान एक लौह पुरुष के कारण उसको अपने इस दुष्कृत्य में सफलता नहीं मिल पाई थी। परन्तु शीघ्र ही वह कश्मीर कांग्रेस से पृथक् अपनी नीति चलाने लगा था। और अब तो उसका पुत्र कांग्रेस और केन्द्र का विरोधी होकर सफल हो रहा है।

कश्मीर में भी रह-रहकर घोषणा करने वाले उत्पन्न होते रहते हैं कि कश्मीर को अपना भविष्य स्वयं निश्चय करने का अधिकार मिलना चाहिए।

कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ ऐसी हैं कि जिनके कारण तुष्टीकृत कश्मीर अभी तक पृथक् देश नहीं बन पाया है। कदाचित् सिख स्वतन्त्र राज्य के लिए भी अभी परिस्थिति अनूकूल नहीं है। इस पर भी यहाँ की सरकार ऐसी नीतियाँ स्वीकार करती रहती है जिससे पृथकता की भावना पनपती रहती है।

हम समझते हैं कि यह प्रश्न भी हिन्दू समाज के सुलझाने का है। यह प्रश्न किस प्रकार सुलझाया जाय ? इसके लिए सिख समुदाय को प्रेरणा देने की आवश्यकता है। वह प्रेरणा बड़ी सरल है। हिन्दू तथा सिख मान्यताओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। यह हमने इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में स्पष्ट कर दिया है। इन मान्यताओं पर बल देते हुए ऐसा समुदाय बनना चाहिए जो इसे पृथक् करने वाले उसे सहज में कर न सकें। अकाली ऐसे प्रयास का विरोध करेंगे। वे तो आज भी कर ही रहे हैं। निरंकारियों का विरोध भी इसी कारण है। निरंकारी यही यत्न कर रहे हैं क्योंकि उसमें सहजधारी और चिह्नधारी दोनों ही समुदाय सम्मिलित हैं।

हम समझते हैं कि सामाजिक स्तर पर हिन्दू समुदाय के धर्मस्थानों में अन्य देवी-देवताओं के साथ कम-से-कम नौ गुरुओं को सम्मिलित करना होगा। हिन्दुओं के मन्दिरों और साँझे गुरुद्वारों में संयुक्त देवताओं की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सिख मत भी शैव, वैष्णव आदि मतों की भाँति ही हिन्दू मत माना जाना चाहिए। इस प्रकार के साँझे गुरुद्वारे गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रबन्ध से पृथक् होने चाहिए।

निरंकारी समुदाय में किंचित्-सा परिवर्तन कर उसको हिन्दू समुदाय बना लेना चाहिए। गुरु ग्रन्थ साहब को उपनिषदादि ग्रन्थों की भाँति संस्कृत और हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रकाशित करना चाहिए।

सब उपनिषद् एक ही स्तर के नहीं हैं। उनमें ग्रन्थ साहब भी स्वयं ही अपना स्तर निर्धारित कर लेगा।

गुरुद्वारा प्रबन्ध कमेटी के संगठन में कदाचित् पर्याप्त त्रुटियाँ हैं। जब यह कानून बन रहा था तो उस समय इसकी सदस्यता के लिए शर्त लगा दी गई थी। वह शर्त थी सिखों के पाँच चिह्नों की। उस समय स्थिति ऐसी थी कि गुरुद्वारों में जाने वाले सहजधारियों को जो इन पाँच चिह्नों को धारण नहीं करते थे, वे पर्याप्त संख्या में थे।

गुरुद्वारा ऐक्ट बनते समय यह प्रश्न उत्पन्न भी हुआ था। परन्तु उस समय की सरकार की नीति ही हिन्दू समुदाय में फूट डलवाने की थी। इस कारण अकालियों की इस माँग को स्वीकार कर लिया गया। यदि यह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि ब्रिटिश सरकार अपनी योजना में सफल हो गई।

उसका निराकरण अब यही है। निरंकारी समुदाय ठीक है।

गुरु ग्रन्थ साहब भी एक प्रकार से आध्यात्मिक ग्रन्थ ही है। इस कारण उपनिषदों की श्रेणी में रखने के योग्य है।

हम कल्पना करते हैं कि हिन्दू मन्दिरों में सिख गुरुओं की मूर्तियाँ और चित्र स्थापित किये जायें। शेष सबको अपने-अपने गुणों पर छोड़ दिया जाय।

हमारा सरकार से इस विषय में यही अनुरोध है कि वह भारतीय समाज से सिख समुदाय को पृथक् ले जाने का अकाली आह्वान को रोके। इसमें सरकार की सहायता होनी चाहिए। सरकार पर बल भी देना चाहिए कि वह हिंसात्मक उपायों से भयभीत न हो और दृढ़ता से अनुशासनहीनता का विरोध करे।

यह कार्य हिन्दू समाज के लिए करणीय है। इस प्रश्न को अन्य राजनीतिक झमेलों से पृथक् रखा जाना चाहिये।

: ७ :

जैन तथा बौद्ध समुदाय

हिन्दू समाज में जैन समुदाय शान्ति से कार्य करने वाला समुदाय है। यद्यपि कुछ एक बातों में यह भी मुख्य धारा से विभिन्न है, परन्तु जहाँ तक हमारा ज्ञान है, वह भेद आधाररहित है। यदि बुद्धिमत्ता से कार्य किया जायेगा तो वह भेद सुलझाना सुगम है।

आर्यसमाज और हिन्दू समाज में जैन और हिन्दू समाज की अपेक्षा अधिक अन्तर है। जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है खान-पान में ही सबसे अधिक अन्तर है। निरामिष और सामिष भोजन का भी अन्तर है। साथ ही उससे सम्बन्धित दृष्टिकोण का अन्तर है। इस भेद से ये समुदाय पृथक्-पृथक् नहीं माने जा सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य हिन्दू समाज में जैन समुदाय का खप जाना सिखों की अपेक्षा अधिक सुगम है। उसका कारण यह है कि जैन मत में बुद्धिवाद का प्रचलन है। वहाँ भी सिद्धान्तों के प्रचलन में तर्क और प्रमाण साथ-साथ चलते हैं। प्रमाण से हमारा अभिप्राय ऋतों से है। जो समुदाय प्रकृति के नियमों को पालन करने का यत्न करता है वह हिन्दू समुदाय में ही माना जा सकता है। हिन्दू सिद्धान्त से प्रकृति स्वयं निश्चल है। वह ईश्वरीय नियमों से ही चलायमान होती है। ईश्वरीय नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। इस प्रकार व्यवहार में बात समान हो जाती है।

हिन्दू समुदाय में पूजा पद्धति और गुरु पद्धति अथवा अवतार पद्धति में परस्पर झगड़े नहीं होते। झगड़े की बात धर्म-व्यवस्था में दूसरे शब्दों में परस्पर व्यवहार के नियमों पर होती है।

जब जैन समुदाय आत्मा, चेतन, संवेदनात्मक तत्त्व को मानता है तो सिद्धान्त में विवाद नहीं रह जाता। प्रकृति और आत्मतत्त्व की विद्यमानता में परमात्म तत्त्व की उपेक्षा हो सकती है। यह इस कारण कि परमात्मा प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करता। जैन समुदाय में यह माना जाता है कि 'जिन्' में आत्मतत्त्व ही परमात्म तत्त्व को प्राप्त हो जाता है। और वह जो कुछ कहता है वह असत्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार देखा जाये तो दोनों समुदायों का आधार समान है। इसी कारण हम कहते हैं कि जैन समुदाय हिन्दू समाज का ही एक अंग है।

बौद्ध समुदाय की बात कुछ विलक्षण है। बौद्धों में जो शून्यवादी हैं वे तो हिन्दू समाज में खप नहीं सकते। किन्तु जो प्रज्ञावादी हैं वे किन्हीं अंशों में अद्वैत-वादी ही माने जा सकते हैं। हिन्दू समाज की मान्यताओं से उनका विरोध नहीं होगा।

इस परिच्छेद में हमने यह कहने का यत्न किया है कि हिन्दू समाज में जो मत-मतान्तर हैं उनका आधार बुद्धिवाद है। बुद्धि सबकी समान नहीं होती, अत: मतभेद के लिए स्थान रहता है। परन्तु जब बुद्धि का आश्रय रहेगा, मतभेद होते हुए भी सामंजस्य बना ही रहेगा।

कुछ काल से कुछ हिन्दू आचार्यों ने बुद्धि को छोड़ श्रद्धा पर बल देना आरम्भ किया तो समाज के विभिन्न अंगों में विरोध झलकने लगा परन्तु जब श्रद्धा का आधार भी बुद्धि द्वारा विचारित बात ही होगी तो मतभेद नहीं रहेगा। जो कहीं-कहीं भेद दिखाई देने लगा है वह बुद्धि को गौण मानने वालों के कारण है।

इस समय सिख समुदाय में जो भेद और वैमनस्य दिखाई देता है वह राज-नीतिक उद्देश्यों को लेकर उत्पन्न किया गया है। इसमें राज्य का, पहले अंग्रेजी राज्य का और अब कांग्रेस राज्य का, स्वार्थ मुख्य कारण है।

यह कण्डिका इसी प्रकरण में लिखनी पड़ी है, जिससे हिन्दू समाज राज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीतिक खिलाड़ियों को, विशेषतया वर्तमान राजसी कार्य के क्षेत्र में, हस्तक्षेप करने से रोक सके।

चतुर्थ परिच्छेद

: १ :

रक्षा के उपाय

हमने अपने विचार से इस पुस्तक में हिन्दू समाज के लक्षण लिखने का यत्न किया है। ऐसे लक्षणों से युक्त हिन्दू समाज की रक्षा की वर्तमान में आवश्यकता आन पड़ी है और उसके लिए कुछ करणीय भी कहा है।

करणीय कर्मों को हमने दो भागों में बाँटा है। एक तो वे जिनको हिन्दू समाज को स्वयं ही करना है और दूसरे वे कर्म हैं जो राज्य को करने के लिए प्रेरित करना होगा।

यह भी देश का सौभाग्य ही मानना चाहिए कि इस समय सैद्धान्तिक रूप में प्रजातान्त्रिक शासन स्थिर है। यद्यपि यह उतना प्रभावी और उपयोगी नहीं है जितना कि होना चाहिए। उसके लिए इसमें अनेक अभाव हैं। विषयान्तर होने के कारण उन अभावों के विषय में हमने किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है तो भी सिद्धान्तरूपेण प्रजातान्त्रिक शासन होने के कारण उसमें सुधार भी प्रजा के द्वारा योजनाबद्धरूपेण हो सकता है। और हिन्दू समुदाय देश में सबसे बड़ा समुदाय होने के कारण वह प्रभावी भूमिका निभा सकता है।

प्रजातान्त्रिक पद्धति के अभावों के विषय में हम यहाँ पर कुछ नहीं लिख रहे हैं। हम केवल उन बातों के विषय में लिख रहे हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दू समाज की रक्षा से है।

इस परिपेक्ष्य में हम उन उपायों के विषय में भी कहना चाहेंगे जिनसे हिन्दू-समाज की रक्षा हो सकती है। उनकी ओर हमने पूर्व के परिच्छेद में संकेत तो किया है, यहाँ हम उनके उपयोग के विषय में ही कहना चाहते हैं।

हम अकालियों अथवा अंग्रेजी काल की मुस्लिम लीग की भाँति के उपायों के विषय में विश्वास नहीं करते। उन उपायों से तो देश, राष्ट्र और राज्य को ही हानि पहुँचने की अत्यधिक सम्भावना है।

मुस्लिम लीग ने अपनी बात मनवाने के लिए देशव्यापी हत्याकाण्ड, अग्नि-काण्ड, लूट-पाट, तोड़-फोड़ आदि कुकृत्य किये थे। हम उन उपायों को न केवल वर्जित ही अपितु स्वरक्षा के लिए भी हानिकर मानते हैं। वर्तमान अकाली संगठन जो कुछ कर रहे हैं वह यद्यपि उतना व्यापक और भयंकर नहीं है जितना कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजों के समय में मुस्लिम लीग ने किया था तदपि यह उससे कम भयंकर परिणाम उत्पन्न करने वाला भी नहीं होगा, ऐसा हमारा मत है।

इस कारण इस प्रकार के उपायों को हम वर्जित समझते हैं। तो फिर अन्य उपाय क्या हो सकता है? हम समझते हैं कि हिन्दू समाज में स्व-रक्षा के विचारों का प्रसार ही एकमात्र ऐसा उपाय है जिससे यह सम्भव हो सकता है।

इसके लिए सर्वप्रथम हमें राजनीतिक और सामाजिक मार्ग की एक सीमा-रेखा निर्धारित कर देनी होगी। यह प्रथम पग माना जायेगा। तदनन्तर हिन्दू समाज को उन सामाजिक क्षेत्रों में ही कार्य करने के लिए प्रेरित करना होगा, यह दूसरा पग माना जायेगा।

उदाहरण के लिए शिक्षा का ही विषय ले लिया जाय। क्या शिक्षा राजकीय विषय है? देखने में यह आता है कि वर्तमान राजकीय पंजे में राज्य-कार्य में शिक्षा का बहुत बड़ा भाग होता है। राजनीतिक ढाँचा बदलने का विषय इस पुस्तक की विषयवस्तु की परिधि में नहीं होने से इसपर हम यहाँ किसी प्रकार के विचार व्यक्त नहीं कर रहे हैं। जिस कार्य की हम बात कर रहे हैं उसके लिए कोटि-कोटि युवक-युवतियों की आवश्यकता होगी। इस कारण हम शिक्षा के इस विभाग में जिससे सरकारी ढाँचा चलता है, बदलने के लिए कुछ कहे बिना शिक्षा के अन्य अंग में सुधार की आवश्यकता समझते हैं।

हम इसी पुस्तक में अन्यत्र बता आये हैं कि टेक्नीकल ट्रेनिंग शिक्षा का एक अंग है। मन, बुद्धि और आत्मा का प्रशिक्षण दूसरा अंग है। क्लेरिकल ट्रेनिंग, अर्थात् पत्र-व्यवहार की योग्यता, टाइपिंग आदि-आदि टेक्नीकल ट्रेनिंग के अन्तर्गत आते हैं।

ज्ञान-विज्ञान में भी जो कुछ अभी तक विदित हो सका है और रचित जगत् के विषय में पता करने को है, यह उसी तकनीकी विद्या का क्षेत्र है। यह मानव शिक्षा का अंग नहीं है। अतः इन सब विषयों में, हम स्वीकार करते हैं कि राज्य को अपनी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। उसका राजकीय व्यवस्था से सम्बन्ध है।

परन्तु इनके अतिरिक्त मानव को मानव पद पर रह सकने की शिक्षा उपरि-वर्णित शिक्षा के अन्तर्गत नहीं है।

कोई भी इलेक्ट्रानिक्स का महान् ज्ञाता स्वभाव से चोर भी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि मानसिक क्षेत्र में अशिक्षित होने के कारण वह चोर, डाकू अथवा इसी प्रकार कुछ भी हो सकता है। मानसिक क्षेत्र में अशिक्षित होना ही इसका कारण है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि उच्चिकोटि का वैज्ञानिक होना एक बात है परन्तु जन-कल्याण की भावना रखना दूसरी बात है। पहली शिक्षा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम केवल टेक्नीकल शिक्षा मानते हैं। परन्तु एक ईमानदार, सत्यवक्ता, सबके कल्याण की भावना रखने वाला होना तथा अपने वास्तविक जीवन सम्बन्धी हितों का चिन्तन करने वाला होना दूसरी बात है।

अतः हम शिक्षा को दो भागों में विभक्त करते हैं। एक को हम तकनीकी शिक्षा कहते हैं और दूसरी को हम मन, बुद्धि और आत्मा की शिक्षा कहते हैं।

दूसरी प्रकार की शिक्षा के विषय में ही समाज को राज्य से स्वतन्त्र रहकर कार्य करना चाहिये।

इस समय राज्य में शिक्षा का ऐसा पाठ्यक्रम बनाया हुआ है कि जिसमें मन, बुद्धि और आत्मा की शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि एक सीमा तक इन आवश्यक अंगों के होने में ही सन्देह उत्पन्न किया जा रहा है।

हम समझते हैं कि हिन्दू समाज को इस शिक्षा के दूसरे अंगों का स्वतन्त्र प्रबन्ध करना चाहिए। इसका वर्तमान विश्वविद्यालयों, विद्यालयों और पाठशालाओं में न केवल अभाव है अपितु इसके विरोध की भावना को उत्पन्न करने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

हिन्दू समाज को चाहिए कि वह समाज के प्रत्येक बालक, बालिका को यह शिक्षा देने का प्रबन्ध करे।

सर्वप्रथम इस शिक्षा की आवश्यकता को स्थापित करना चाहिए। दूसरे इसकी तकनीकी शिक्षा पर आधिपत्य की आवश्यकता की अनुमति और फिर इसके लिए उपायों के प्रयोग की आवश्यकता होनी चाहिए।

इस निमित्त पाठशाला, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में शिक्षा का प्रबन्ध समाज के विद्वानों की देख-रेख में करवाने का प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य इसको नहीं करेगा। कदाचित् कर भी नहीं सकता। इस प्रकार शिक्षा का यह अंग राज्य के हाथ से निकालकर समाज को इसका प्रबन्ध करना चाहिए।

इस प्रकार की शिक्षा के लिए जनता में उत्कट इच्छा और फिर उस इच्छा-पूर्ति के लिए राजनीति में मोर्चा बनाया जाना चाहिए। इस प्रकार हम एक अन्य राजनीतिक दल के निर्माण की बात नहीं कर रहे हैं। अपितु राजनीतिक प्रबल भावना जिसमें उस मानवता का विरोध करने वालों को किसी भी राजनीतिक दल का प्रत्याशी होकर लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं में प्रविष्ट होने का साहस ही न हो सके।

वर्तमान राजनीतिक ढांचे के भीतर ही हमें शिक्षा का यह क्षेत्र निर्माण करना चाहिए और कोई भी दल हो हमको तो अपना पूर्ण ध्यान शिक्षा के सुधार पर ही लगा देना चाहिए। और मानवी शिक्षा देने का प्रबन्ध भी राज्य से स्वतन्त्र कराने का प्रबन्ध करना चाहिए।

जनता के पूर्ण बल को इस बात पर केन्द्रित करके राज्य को विवश कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना चाहिए कि वह देश के नागरिकों के अधिकार को स्वीकार करे कि जिससे वे मन, बुद्धि और शिक्षा की स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें।

: २ :

करणीय कर्म

पूर्ण समाज को एकमत होकर कार्यसिद्धि के लिए यत्न करना चाहिए। जिन विषयों पर एकमत होकर कार्यसिद्धि के लिए यत्न करना है, उनका उल्लेख हम यहाँ कर देना चाहते हैं। वे हैं—

१. शिक्षा जिसका सम्बन्ध मन, बुद्धि और जीवात्मा से है, की स्वतन्त्रता।

२. वर्तमान शिक्षा का वह अंग भी जिसे तकनीकी शिक्षा कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण विज्ञान और उससे सम्बन्धित विषय भी आ जाते हैं। उसके होते हुए भी मानसिक तथा अन्य विकार के साधनों से मुक्ति होनी चाहिए।

३. अर्थव्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता। इसमें मुक्ति केवल राज्य के बन्धनों से ही नहीं चाहिए वरन् वर्तमान युग के अर्थ उपलब्धि के ढंग और साधनों से भी मुक्ति की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता से और स्वेच्छा से जीवनयापन के साधन प्राप्त करना समाज को उन्नत और सबल बनाना है। इस अर्थ-व्यवस्था में ही जनसंख्या का प्रश्न और चिकित्सा के ढंग का विषय आता है। जीवन सरल, सस्ता और सुगम होना चाहिए।

४. मानव समाज में हिंसक जन्तुओं से मुक्ति पाने का यत्न होना चाहिए। हम हिंसा उसको मानते हैं जो हम अपने साथ पसन्द नहीं करते। इस कारण हम ऐसे अहिंसावादी इस संसार में चाहते हैं जो किसी दूसरे से कोई ऐसा व्यवहार न करें जो वह अपने साथ पसन्द नहीं करते। जो ऐसा नहीं समझते अर्थात् अपने और दूसरे में भेद रखते हैं उनको हम दुष्ट समझते हैं और उनके लिए हमारा यह कहना है—**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**

५. हिन्दू समाज में हम प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र और स्वावलम्बी चाहते हैं। दूसरों पर निर्भर करने वाले न्यून-से-न्यून संख्या में और न्यून-से-न्यून विषयों में ही हों।

६. हम राज्य का अभिप्राय शासन समझते हैं। शासन उन दोनों सिद्धान्तों को अर्थात्—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्; परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** को स्थापित करने वाला संयन्त्र है।

७. विधिकार्य (लॉ गिविंग ऐजेन्सी) शासन नहीं है। यह समाज में व्यवस्था स्थापित करने के लिए विधि-विधान बनाने का काम है। जो समाज के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वानों और आसक्तिरहित व्यक्तियों का कार्य है। हम शासन से अर्थात् शासन करने वाले संयन्त्र से इस काम को निकालकर पृथक् विद्वानों के हाथ में देना चाहते हैं।

८. हम न्यायपालिका को शासन से सर्वथा मुक्त देखना चाहते हैं। शासन के केवल दो कार्य हैं—विधि-विधानानुसार देश में व्यवस्था स्थापित करना और विदेशों से देश और देश के नागरिकों की रक्षा करना।

९. देश में जब समान मान्यताओं के लोग बहुत बड़ी संख्या में हों तो वह राष्ट्र कहाता है और राष्ट्र का ही यह काम है कि अपने स्वत्व की रक्षा के लिए यत्न करे। योग और क्षेम इस कार्य में पथ-प्रदर्शक होने चाहिए।

१०. राष्ट्र के अतिरिक्त देश के रहने वालों के विषय में हमारा यह मत है कि उनको नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिए। और राज्य को उनके जान-माल की रक्षा करनी चाहिए। वैसे ही जैसे राष्ट्र के घटकों की करते हैं।

११. राष्ट्र में सम्मिलत होने के लिए वैसे तो सब मान्यताओं को स्वीकार करने की बात है परन्तु यदि राष्ट्र की दो मान्यताओं—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् तथा परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** को माने तो उसके लिए राष्ट्र में स्थान होना चाहिए। मान्यताएँ बुद्धि का विषय हैं। समय पाकर वे स्वतः ही धारण हो जाती हैं।

: ३ :

जनसंख्या की वृद्धि

आज जबकि देश में हिन्दुओं के अतिरिक्त लोग भी उपस्थित हैं और देश में प्रजातान्त्रिक राज्यपद्धति का चलन है, इस कारण हिन्दू जनसंख्या का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया है। हिन्दुओं के अस्तित्व के लिए हिन्दू मान्यताओं को मानने वालों की संख्या में वृद्धि अत्यावश्यक है। हिन्दुओं की जनसंख्या में वृद्धि करने के दो उपाय हैं। एक है हिन्दू आचार-विचार के व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि करना और दूसरे, हिन्दू परिवारों में सन्तान अधिक उत्पन्न करना। परन्तु यदि हिन्दू सन्तानों में हिन्दू आचार-विचार का चलन न हो सका तो केवल नामधारी हिन्दुओं की संख्या बढ़ाने से लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः अधिक सन्तान उत्पन्न करने का प्रभाव भी तभी हो सकता है, जब हिन्दू आचार-विचार का चलन भी हो।

इसी पुस्तक में हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि हिन्दू जाति के लक्षणों में नस्ल (race), रंग, रूप (शरीर की बनावट) और शरीर पर किसी प्रकार के कृत्रिम चिह्नों का कोई स्थान नहीं है।

योरुप निवासी गोरे और काले में भेद से जाति मानते हैं। चीनी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापानी अपने नाक और जबड़े की हड्डी को जातीय लक्षण मानते हैं। अफ्रीका के हब्शी भी अपने रंग और नाक तथा मुख की बनावट को जातीय लक्षण मानते हैं। परन्तु हिन्दू होने में इन लक्षणों तथा शरीर पर सुन्नत इत्यादि बनाये चिह्न बाधा नहीं हैं।

हिन्दुओं में भी कभी चोटी रखना, तिलक छाप लगाना और इसी प्रकार के चिह्न हिन्दू के लक्षण माने जाते थे। परन्तु अब हिन्दू ऐसा नहीं मानते। ये सब बाहिरी चिह्न विलुप्त हो गये हैं। हिन्दू नाम और फिर हिन्दुओं के बाहिरी चिह्न हिन्दू होने के लक्षण नहीं माने जाते।

हम समझते हैं कि प्रायः सब हिन्दुओं में कुछ मान्यतायें हैं जो हिन्दुओं के लक्षण समझे जाते हैं। यह ठीक है कि प्रायः हिन्दू उन मान्यताओं को मानते हुए भी जानते नहीं कि ये उनके विश्वासों का अंग हैं। इसपर भी अन्तर्मन में हिन्दू इनको स्वीकार करता है। हमारे विचार में ये विश्वास हैं—

(१) आस्तिक्य अर्थात् परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना।

(२) प्राणी में शरीर से पृथक् जीवात्मा नाम के एक तत्त्व को मानना।

(३) पुनर्जन्म को स्वीकार करना और कर्मफल में विश्वास रखना। जन्म के समय ही जब कोई अपाहिज तथा अंग-हीन हो तो उसको पूर्वजन्म के अधर्म युक्त कर्मों का परिणाम समझना अथवा अच्छे और बुरे फल की प्राप्ति को भी अपने लिए कर्मों का परिणाम ही समझना।

(४) अच्छे और बुरे का माप-दण्ड प्राकृतिक नियमों के अनुकूल तथा विपरीत कर्म है। प्राकृतिक नियमों को हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऋत कहा गया है। इनको ईश्वरीय नियम ही माना जाता है।

(५) धर्म ईश्वरीय नियमों का नाम है। उनके विरुद्ध आचरण को अधर्म कहते है, ऐसा मानना।

(६) धर्म-अधर्म की सरल परख है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात् सब धर्मों का सार यह है कि जो व्यवहार अपने अनुकूल समझ न आवे, उसे दूसरों के साथ भी व्यवहार में न लाना।

(७) जीवन का सामान्य व्यवहार यह होना चाहिए—

परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम॥

दुष्टों का सदा विरोध और भले लोगों की सहायता।

(८) योग-क्षेम धर्म का पालन करना भी हिन्दू का लक्षण है।

प्रत्येक दिशा में धर्मयुक्त प्राप्ति और प्राप्त की प्रत्येक प्रकार से रक्षा का नाम योग-क्षेम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसे हिन्दू जाति में अनेक समाज हैं। प्रत्येक समाज के अपने-अपने सामाजिक नियम हैं। समाजों में रहते हुए उन नियमों का पालन करना होता है। समाज से बाहर होना हिन्दू समुदाय से बाहर होना नहीं है। समाज से हमारा अभिप्राय पंजाबी, महाराष्ट्रियन, ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि समाज से है। समाज से अभिप्राय सम्प्रदाय भी होता है। जैसे सिख, वैष्णव, शैव, आर्यसमाजी इत्यादि। इन सबके अपने-अपने नियम तथा इष्टदेव हैं। हिन्दू समुदाय अथवा जाति इन सबसे ऊपर है।

जब हम हिन्दू जनसंख्या की बात करते हैं तो उक्त मान्यताओं के मानने वाले समुदाय की जनसंख्या की बात ही कहते हैं।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि उक्त मान्यताओं को स्वीकार करने वालों की भारत देश में संख्या सदा अधिक रही है। इस कारण उक्त मान्यताओं का सम्बन्ध भारत देश से विशेष हो गया है। यह लगभग वैसा ही है जैसा कैथोलिक ईसाइयों का सम्बन्ध रोम से है। अथवा यहूदियों का सम्बन्ध यरुशलम से है। यह भी कहा जा सकता है कि जैसा इस्लाम का सम्बन्ध मक्का से हो गया है।

इस कारण हम यह चाहते हैं कि भारत में हिन्दू समुदाय का बाहुल्य बना रहे। ऐसा न हो जैसा सन् १९४७ में पंजाब, सिन्ध तथा उत्तरी कश्मीर में हुआ था। जो दुर्घटना वहाँ हुई थी, वह वहाँ हिन्दुओं की जनसंख्या दूसरे समुदायों से कम हो जाने के कारण हुई थी। इसमें एक अन्य भी कारण हुआ है। वह यह कि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से भारत देश में रहने वाले हिन्दू भारत को एक इकाई मानना छोड़ बैठे थे। अन्यथा उत्तर प्रदेश का हिन्दू पंजाब के हिन्दू को वहाँ से निकाले जाने को सहन न कर सकता। मद्रास के हिन्दू को यह सहन न हो सकता कि सिन्ध से हिन्दू भेड़-बकरियों की भाँति हाँककर बाहर निकाले जा रहे हैं। यह हुआ, क्योंकि भारत के एक इकाई होने की भावना शिथिल हो चुकी थी।

परन्तु यह समस्या पृथक् है। इस समय हम जाति की जनसंख्या की बात कर रहे हैं; यद्यपि जनसंख्या की बात स्थान के साथ सम्बन्धित है, इसपर भी दोनों पृथक्-पृथक् समस्यायें हैं। जब जनसंख्या सुरक्षित होगी तो देश की समस्या स्वतः सुलझ जायेगी।

वर्तमान भारत देश में हिन्दू जाति के घटकों की संख्या वृद्धि पानी चाहिए। उसके लिए हम कह रहे हैं कि उक्त मान्यताओं से हिन्दू की गणना होनी चाहिए। और इसकी वृद्धि का एक उपाय हमने यह बताया है कि इन मान्यताओं का तीव्र प्रचार होना चाहिए।

हमने बताया है कि हिन्दू समुदाय में कई समाजें हैं। उन समाजों को अपने-अपने रीति-रिवाज रखते हुए इन साँझी मान्यताओं को मानने वालों में वृद्धि के लिए उग्र प्रचार कार्य होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हिन्दू जाति की प्रत्येक समाज अपनी विशेष मान्यताओं को रखते हुए भी इन साँझी मान्यताओं को प्रमुखता दे तो हम समझते हैं कि हिन्दू मोर्चे का यह कार्य सुगमता से हो सकता है। इस दिशा में उग्र प्रचार (Intensive Propaganda) की आवश्यकता है।

जनसंख्या में वृद्धि का दूसरा उपाय परिवारों में अधिक बच्चे उत्पन्न करना है। प्रत्येक हिन्दू परिवार में उक्त मान्यताओं में विश्वास रखने वाले अधिक-से-अधिक घटक उत्पन्न करना घटकों की संख्या में वृद्धि का एक मान्य उपाय है।

जनसंख्या में हिन्दू समाज के घटकों की संख्या बनी रहे और वृद्धि पाती रहे यह भी हिन्दू मोर्चे का एक कार्य है। जनसंख्या में स्थायित्व और वृद्धि का श्रेष्ठ और निरापद उपाय है—पर्याप्त सन्तानोत्पत्ति। जहाँ संख्या में ह्रास न होने के लिए सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रचार को शिथिल होने न देना, एक वैध उपाय है, वहाँ जनसंख्या में ह्रास न होने पाये, इसके लिए सन्तानोत्पत्ति में ह्रास को रोकना दूसरा वैध उपाय है।

पूर्ण भू-मण्डल में जनसंख्या में तीव्रगति से वृद्धि हो रही है। भू-मण्डल में बसे लोगों में सब विचार के लोग हैं। खरे-खोटे, श्रेष्ठ-दुष्ट। सब प्रकार के लोग-सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं और फिर अपनी-अपनी सन्तान को अपने जैसा अथवा अपने से भी बढ़-चढ़कर अपने विचारों और संस्कारों वाला बनाने के लिए प्रचार किया जा रहा है। अतः मूल विचार के लोगों की संख्या में ह्रास हुआ तो भारी विपदा की अवस्था उपस्थित हो जायेगी। इस कारण हम हिन्दू, जो अपने ढंग से जीवन चलाने वालों को श्रेष्ठ मानते हैं, चाहते हैं कि हम अपने विचार के लोगों की संख्या को कम न होने दें।

हिन्दू विचार के सन्दर्भ में पूर्व की कण्डिकाओं में व्याख्या से लिखा है। उस जीवन विधा को हम सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस कारण उस विचार के जनों की संख्या में ह्रास होने न देना हम परम पावन कार्य समझते हैं। यह सबके कल्याण में है। अतः हिन्दू समाज की जनसंख्या में ह्रास न हो सके, इसके उपायों में सन्तानोत्पत्ति वैध और सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

इसमें बाधायें हैं। प्रथम बाधा है स्त्री वर्ग के सन्तान-उत्पत्ति कार्य में कष्ट की। सन्तान निरोध की सबसे बड़ी पोषक 'मेरी स्टोप्स' एक स्त्री ही हुई है। उसके इस प्रचार में स्त्रियों का कष्ट निवारण उद्देश्य ही रहा है। हम उसको किसी प्रकार का दोष नहीं देते। न ही हम सामान्य स्त्री-वर्ग को सन्तान निरोध के पक्ष में हाथ उठाते देख उनको विकृत विचार का मानते हैं। इसपर भी उनको संकुचित दृष्टि रखने वाला तो मानते ही हैं।

स्त्री वर्ग समाज का एक अति कोमल अंग है। इसकी रक्षा का दायित्व पूर्ण समाज पर है। जब हम पूर्ण समाज की बात कहते हैं तो इसमें स्त्री वर्ग को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मिलित करते हैं। समाज को समष्टि रूप में समाज के अति कोमल भाग की रक्षा का भार पूर्ण समाज, पुरुष और स्त्री, दोनों पर है। और जब इस निर्विवाद तथ्य का ज्ञान हो जाये कि किसी भी समुदाय में जनसंख्या कम हो जाने से पूर्ण समाज पर आपात्काल आ सकता है तो यह स्त्री-पुरुष दोनों का दायित्व हो जाता है कि जनसंख्या में स्थायित्व और उचित वृद्धि का स्तर बनाये रखें।

यदि ऐसा हो सकता कि पुरुष और स्त्री वर्ग दोनों सन्तान उत्पन्न कर सकते, तब तो सन्तान-उत्पत्ति में विधि-विधान और बँटवारे की बात हो सकती थी। परन्तु ऐसा है नहीं। दोनों वर्गों में एक ही वर्ग सन्तानोत्पत्ति करने की सामर्थ्य रखता है। इससे वह उस वर्ग का दायित्व है कि जाति-अभ्युदय के लिए इस कार्य को सहर्ष करे। पुरुष वर्ग का दायित्व यह है कि स्त्री वर्ग के कष्टों के निवारण में यत्नशील रहे।

पुरुष क्या यत्न करे? हम समझते हैं, उसको चाहिए कि स्त्री वर्ग को प्रत्येक प्रकार से आर्थिक सुविधा, शारीरिक सुविधा, मानसिक सुविधा और आत्मोन्नति की सुविधा प्रस्तुत करे। हम इस बात के पक्ष में हैं कि पुरुष कमाये और स्त्री वर्ग उस कमाई को भोग करे। पुरुष स्त्री-वर्ग की रक्षा के लिए घर में और समाज में संघर्ष करे। समाज के इस अत्यावश्यक और कोमल अंग की रक्षा के लिए घोर-से-घोर उपाय के लिए सदा तत्पर रहे।

अन्यथा सन् १९४७ की सीमाप्रांत, पंजाब, सिन्ध और पूर्व बंगाल की स्थिति पुनः देश में किसी भाग पर उत्पन्न हो सकती है।

वे मूर्ख और भीरु लोग ही थे जिन्होंने उसके लिए दोनों समुदायों की रक्षा का प्रबन्ध किये बिना देश-विभाजन को स्वीकार किया था। यह कार्य देश का नेतृत्व करने वालों का था कि वे उस समय जनसंख्या को शान्तिपूर्वक अदला-बदली के विषय में डट जाते। लोग कहते हैं कि देश के नेता मरने से डर गये। यह भीरुता भगवद्गीता के पढ़ने वालों में कैसे घुस आयी, विस्मयजनक है।

स्त्री वर्ग अपनी रक्षा, अपनी मान्यतायें रखते हुए स्वयं नहीं कर सकती थी और न कभी कर सकेगी। यह पुरुष का दायित्व है कि उसकी रक्षा करे।

देश में वह स्थिति उत्पन्न करने वालों की बुद्धि पर भी विस्मय होता है कि उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए सेवा-कार्य जैसे घृणित कार्य को स्त्री वर्ग के लिए भी आवश्यक समझा है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ स्त्री वर्ग समाज की स्थिरता के लिए सन्तान-निर्माण जैसे दुरूह कार्य करने के योग्य है, वहाँ उसको प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाने का कार्य पुरुष का है।

हमारे मत में हिन्दू मोर्चे का यह एक परमावश्यक और परम-पावन कार्य है कि स्त्री वर्ग की प्रत्येक प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध करे। जनसंख्या की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिरता और विश्व में इसकी दौड़ में सफल होने के लिए यह अत्यावश्यक है।

अधिक सन्तान-उत्पत्ति होने पर आवश्यक वस्तुओं की कमी दूसरी बाधा है। यह कहा जाता है कि भू-मण्डल में खाने-पीने की वस्तुओं की उत्पत्ति जनसंख्या की वृद्धि के बराबर नहीं हो रही और न हो सकेगी।

एक सीमा तक यह आपत्ति समझ में आती है। परन्तु हम भारत सरकार के कर्णधारों से यह जानना चाहते हैं कि जब उन्होंने हिन्दू समाज के लिए एक पत्नी का विधान बनाया था तो पूर्ण देशवासियों के लिए क्यों नहीं बनाया? क्या खाने-पहनने का अभाव केवल हिन्दुओं के लिए ही होने वाला है और किसी दूसरे समुदाय के लिए नहीं होगा?

क्या भारत सरकार यह बात भूल गई है कि देश का विभाजन कुछ स्थानों पर हिन्दुओं की संख्या कम हो जाने के कारण ही हुआ था और उनको मार-मार कर उन स्थानों से भगाया गया था? अब वे बँगला देश से भगाये जा रहे हैं। इस मारकाट का जनसंख्या से सम्बन्ध नहीं है क्या? क्या इसमें खाने-पीने का अभाव कारण नहीं है?

यह बात मध्य दिन के मार्तण्ड के समान स्पष्ट है कि सेमिटिक विचारधारा वालों की नस-नस में समाया हुआ है कि विचार-प्रसार तलवार के बल पर भी किया जा सकता है। पाकिस्तान बनाते समय मुसलमानों ने यही किया था। ईसाइयों के अभ्युदय तथा संघर्षकाल में उन्होंने भी किया था। यहूदियों ने तो अभी-अभी बैरुत में किया है। इस विचारधारा के भू-मण्डल में जीवित रहने तक हिन्दू मोर्चे का यह काम है कि जनसंख्या में अपनी उचित वृद्धि और उनकी उन्नति के लिए यत्नशील रहे।

यदि जोवनीपयोगी पदार्थों की कमी होगी तो सब समुदायों के लिए होगी, केवल हिन्दुओं के लिए नहीं। इस कारण वह समाज जो सबके लिए समभाव रखता है अपनी सुरक्षा के लिए अपनी जनसंख्या का अनुपात कम न होने दे। साथ ही साथ दूसरों के साथ समानता का व्यवहार न करने वालों के साथ समानता का व्यवहार न होने दे। यह उचित नहीं क्या?

हमारा अभिप्राय यह है कि हिन्दू समाज की भारत में और भू-मण्डल में जनवृद्धि उसी अनुपात में होती रहनी चाहिए, जिस अनुपात में दूसरे समुदायों की हो रही है। इसमें शिथिलता सत्य तथा न्याय का विरोध हो जायेगा।

तीसरी आपत्ति जनसंख्या की वृद्धि में यह है कि भू-मण्डल में रहने योग्य भूमि की भी सीमा है। इसका भी उत्तर वही है जो खाने-पीने, पहिनने का अभाव होने की सम्भावना का बताया है।

हम सब प्रकार से सबके साथ समभाव रखने की इच्छा रखते हैं। सबके साथ समभाव न रखने वालों से हमारा विरोध है। जो जनसंख्या में अधिक होने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विशेष अधिकार मानते हैं, हम उनसे कम संख्या में नहीं रहना चाहते । यदि भू-मण्डल में सब समुदाय समभाव रखने वाले हो जायेंगे तब इस विषय में विचार करने का अवसर होगा कि जनसंख्या सीमित रखने के लिए क्या-क्या उपाय किये जाने चाहिए । मतभेद और मान्यताओं को हम विचार और प्रेरणा से बदलने के पक्ष में हैं । जो ऐसा नहीं करना चाहते, उनकी जनसंख्या अपने से बढ़ने नहीं देनी चाहिए ।

हिन्दू मोर्चे के कार्यों में हम अर्थव्यवस्था को भी सम्मिलित करते हैं । हम कर्म-फल और मनुष्य के मरने के उपरान्त उसके आत्मा के साथ उनके जाने की बात मानते हुए इसमें उस सीमा तक स्वतन्त्रता चाहते हैं जिस तक यह व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखती है। अर्थव्यवस्था के दो पक्ष हैं। एक यह कि अर्थ व्यक्तिगत पुरुषार्थ से उपलब्ध होता है । जब कभी भी यह एक से अधिक के सामूहिक प्रयत्न से उपलब्ध हो, वहाँ इसकी उपलब्धि के उपरान्त इसका बँटवारा तुरन्त व्यक्तियों में होना चाहिये । बँटवारा न्यायोचित सामाजिक नियमों के अनुसार हो जाने के उपरान्त समष्टि का उसपर कोई अधिकार नहीं रह जाता । व्यक्ति अपनी-अपनी उपलब्धि का भोग करने में स्वतन्त्र है ।

इस विषय में हम अपने विचार पूर्व के लेख 'अर्थ-व्यवस्था' पर लिख चुके हैं । इसका एक परिणाम यह होगा कि जब व्यक्ति को अपना भाग मिल गया तो फिर उस पर समष्टि का अधिकार नहीं रहता । अर्थात् उस पर सरकारी टैक्स (आयकर, मृत्युकर आदि) नहीं लगने चाहिए। साथ ही उपहारों पर टैक्स तो सर्वथा अनुचित है । कर अर्थ-उत्पादन पर हो न कि अर्थ के उपभोग पर।

हम समझते हैं कि वर्तमान युग में हिन्दू समाज को जीवित रखना मानव कल्याण के लिए अत्यावश्यक है । इसके लिए ही हिन्दू मोर्चे की आवश्यकता है । यह इस कारण कि वर्तमान भारत की राज्य-नीति हिन्दू-समाज को निःशेष कर रही है । सबसे बड़ी बात, जो राज्य हिन्दू समाज के विरोध में कर रहा है, वह कुशिक्षा का प्रचलन है । अकेला व्यक्ति इस कुशिक्षा को बन्द नहीं कर सकता । इस कराण सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है ।

□□□

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं विचारक श्री गुरुदत्त की अनुपम रचना

श्रीमद्भगवद्गीता

सरल सुबोध भाषा-भाष्य

मूल्य ५० रुपये, डाक व्यय १० रुपये

जिस जाति को धरोहर में गीता का ज्ञान मिला है, जिसमें बताया गया है कि आत्मा अमर है, नाशवान् तो यह भौतिक शरीर है, आज वही जाति मरने से भयभीत है। इसमें सबसे प्रबल कारण यह है कि हम गीता को ऐसा ज्ञान मानते हैं जिसकी आवश्यकता वृद्धावस्था में मृत्यु के किनारे बैठे हुए पड़ती है।

वास्तव में गीता-ज्ञान मनुष्य को कर्म क्षेत्र में उतरने के समय मिलना चाहिए। गीता मुख्यतया कर्मयोग का ग्रन्थ है। आध्यात्मिक ज्ञान भी कर्म की प्रेरणा के लिए ही इसमें समाविष्ट है। तभी तो इस ज्ञान को प्राप्त कर अर्जुन धर्मयुद्ध के लिए प्रेरित हुआ था।

भगवद्गीता के ज्ञान की शुद्ध विवेचना में लिखा यह भाष्य अनुपम है।

हिन्दी साहित्य सदन

३०/९०, कनाट सरकस (मद्रास होटल के नीचे), नई दिल्ली-११०००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

168613

सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं चिन्तक श्री गुरुदत्त की अनुपम रचना

परित्राणाय साधूनाम्

महाभारत की कथा को आधार बनाकर लिखे गए
श्री गुरुदत्त के तीन उपन्यास

अवतरण, सम्भवामि युगे-युगे तथा **विनाशाय च दुष्कृताम्**

अब एक जिल्द में अनुपम साज-सज्जा के साथ पुनः प्रकाशित।

मूल्य : सजिल्द २४० रुपये पेपर बैक १६० रुपये

महाभारत का युद्ध अब तक के हुए युद्धों से भी अधिक भीषण था, जिसमें कहा जाता है कि १८ दिन में लगभग पचास लाख योद्धा मारे गए थे। फिर भी यह एक धर्म-युद्ध था, क्यों और कैसे ?

महाभारत की कथा को आधार बनाकर लिखा गया कदाचित् यह सर्वप्रथम उपन्यास है जो सन् १९६० में प्रथम बार छपा था।

महाभारत की कथा को प्रस्तुत किया गया है संजय के मुख से। संजय प्रत्यक्ष-दर्शी था न केवल महाभारत युद्ध का प्रत्युत कौरवों-पाण्डवों के जीवनपर्यन्त चलने वाले वैमनस्य तथा संघर्ष का।

एक अनुपम कथानक, हिन्दी के मूर्धन्य कथाकार गुरुदत्त द्वारा अन्यतम ढंग से प्रस्तुत।

तीनों उपन्यास एक ही जिल्द में, पृष्ठ संख्या ८६८ (डिमाई आकार में) सम्पूर्ण कपड़े की सुदृढ़ जिल्द।

यह रचना
साहित्यकार गुरुदत्त—प्रतिनिधि रचनाएँ (खण्ड पाँच)
के रूप में भी प्रकाशित हुई है।

भारती साहित्य सदन

३०/९०, कनाट सरकस (मद्रास होटल के नीचे) नई दिल्ली-११०००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Central Library
168019
Gurukula Kangri (Deemed to be University) Haridwar

सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं चिन्तक श्री गुरुदत्त की अनुपम रचना

गंगा की धारा

अब एक जिल्द में अनुपम साज-सज्जा के साथ पुनः प्रकाशित ।

मूल्य : सजिल्द २८० रुपये   पेपर बैक १८० रुपये

इस देश में बसी समाज की संस्कृति और आचार-संहिता गंगा की पावन धारा की भाँति अनन्तकाल से चली आ रही है । इस पर भी यह पवित्र है, स्वच्छ है, मधुर है और रोग-नाशक है, अपने स्रोत के समीप ही । हुगली की धारा है तो गंगा ही की, परन्तु इसमें बहुत कुछ मल-मूत्र, कीचड़ और कचरा मिल गया है । इस कारण यदि इस धारा से लाभ उठाना है तो इसका पान गंगोत्री में जाकर ही करना होगा ।

भारत एक अति उन्नत देश था और यहाँ के रहने वालों की आचार-संहिता अति श्रेष्ठ थी । इस पर भी यह देश और इसमें रहने वाली जाति एक सहस्र वर्षों से मध्य एशिया की बर्बर जातियों के पाँव की ठोकरें खा रही हैं ।

एक सहस्र वर्ष की दासता के होने पर भी, वैचित्र्य यह है कि जहाँ अन्य देशों में मुसलमान शासकों ने बहुत ही अल्पकाल में पूर्ण जनता को इसलाम के सामने नतमस्तक कर दिया था, वहाँ भारत में मुसलमान शासक एक सहस्र वर्ष तक शासन करने पर भी, बहुत ही अल्पसंख्या में जनता को इसलाम के झण्डे-तले ला सके हैं ।

शेष तो यह एक उपन्यास है । पात्र काल्पनिक हैं । इतिहास को ठीक-ठीक रखने का यत्न किया गया है । इसमें सत्य है तब की हिन्दुओं की दयनीय दशा ।

मुसलमान अभी भी यहाँ हैं । अभी भी पाकिस्तान है, जहाँ तबलीग का दौर वेग से चल रहा है और हिन्दू अभी भी अपने को वैसा ही असहाय पाता है, जैसे उस काल में था जब की यह कथा है ।

यह रचना
साहित्यकार गुरुदत्त—प्रतिनिधि रचनाएँ (खण्ड दस)
के रूप में भी प्रकाशित हुई है ।

भारती साहित्य सदन
३०/९०, कनाट सरकस (मद्रास होटल के नीचे) नई दिल्ली-११०००१

081
168019
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Access No.		
Class No.		
Cat No.		
Tag etc.		
E.A.R.		
Recomm. by.		
Data Ent. by		
Checked		

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

R 089.9143

वर्ग संख्या..... GUR-S

आगत संख्या 168019

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा 50 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गुरुदत्त

1894-1989 शिक्षा : एम. एस-सी.

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर" से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं।

विज्ञान की पृष्ठभूमि पर वेद, उपनिषद् दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनको ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है।

उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता

08
G
1

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar